केरल : लोक संस्कृति और साहित्य

लोक संस्कृति और साहित्य

केरल : लोक संस्कृति और साहित्य

कवलम नारायण पनीक्कर

अनुवाद

उषा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय-सूची

आभार

स्व. एस. नटराजन मेरे थिएटर ग्रूप 'सोपानम' के सक्रिय सदस्य थे। इस पुस्तक की तैयारी में उनकी विभिन्न मददों के लिए मैं कृतज्ञ हूं और उनके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। इस संदर्भ में अपने रघु की याद आती है, जिन्होंने मुझे भरपूर मदद दी।

त्रिवेन्द्रम
1-4-1986

कवलम नारायण पनीक्कर
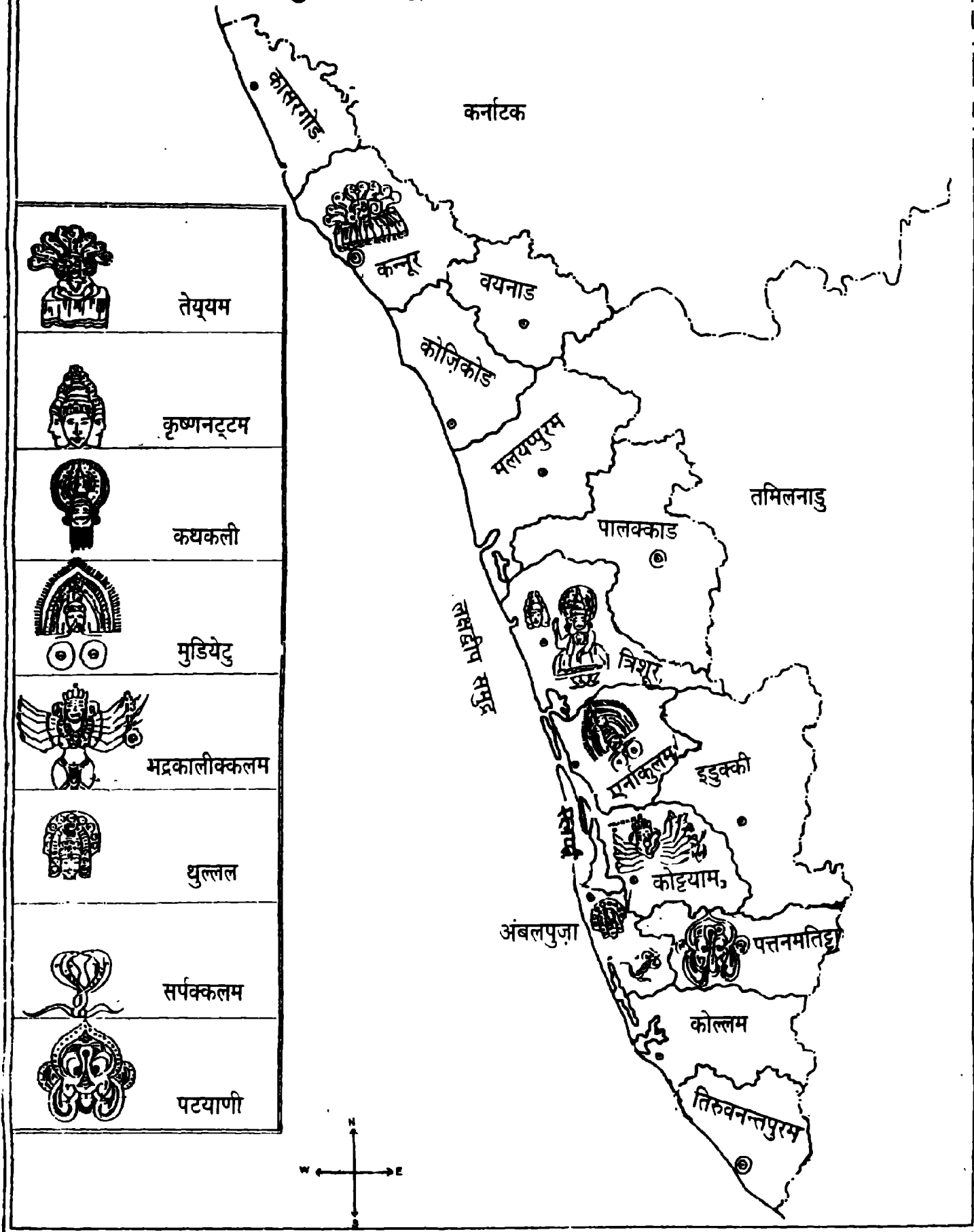
भारत के महासर्वेक्षक की अनुमति से प्रस्तुत और भारत के मानचित्र के सर्वेक्षण पर आधारित। भारत सरकार सर्वाधिकार, 1991। समुद्र में समुचित आधार रेखा से बारह समुद्रीय मील तक राज्य क्षेत्रीय समुद्र है। सीमा के अंदर की विस्तृत जानकारी की जवाबदेही प्रकाशक की है।

1
प्रदेश और लोग

केरल (मलयाली लोगों की भूमि), भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिण-पश्चिम समुद्र-तट पर स्थित, सुदृढ़ भाषाई इकाई है जिसका सतत् एवं अभूतपूर्व इतिहास तथा परंपरा है, जिसने लंबे काल तक विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों को आत्मसात किया है। यह संस्कृति शताब्दियों से समुद्र एवं भूमि पथ द्वारा बाहरी दुनिया से हुए संपर्क से विकसित हुई थी। यह प्रदेश शेष प्रायद्वीप से प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं द्वारा अलग है। पश्चिमी घाट अपने पुरातन जंगलों एवं अतिवृष्टि के साथ पूर्वी सीमा को निर्धारित करते हैं तथा उत्तर से दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हैं। समस्त पश्चिमी सीमा का आलिंगन अरबसागर कर रहा है। इस प्राकृतिक सीमा के मध्य में छोटा-सा भूमि का टुकड़ा उत्तर में कासरकोड से दक्षिण में पारसाला तक फैला है (यही केरल की वर्तमान सीमा है) जहां घनी आबादी के शोर की अनुगूंज है तथा जीवंत सागर की गर्जना भी है। दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व का वर्षाकालीन आर्द्र पवन तथा वर्षा की बूंदें समस्त प्रदेश की भूमि को वर्ष में से पांच छह महीने तक गीली रखती है। फरवरी से मई के महीनों में गर्मी पड़ती है। दक्षिणी-पश्चिमी वृष्टिकालीन पवन जून से चलने लगती है तथा अक्टूबर-नवंबर की पूर्णिमा तक चलती रहती है। इन दिनों काफी वर्षा होती है जो निरंतर होती ही रहती है और अधिकांशतः बीच में रुकती नहीं। इसके उपरांत दिसंबर और जनवरी का मौसम सुहावना होता है। मार्च और अप्रैल के महीनों में कभी-कभी वर्षा होती है, बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है तथा आंधी आती है। परंतु ऐसा मौसम अधिक समय तक नहीं रहता और बाद में मौसम ऊष्ण हो जाता है। अप्रैल के महीने से पर्वत-शृंखलाओं पर घना कोहरा पड़ता है जो समुद्र-तट पर अधिकतर नहीं देखा जाता। केरल की जलवायु पूरे वर्ष संतुलित तथा परिमित रहती है। बहुत-सी नदियां जो पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है अपने साथ लाई हुई मिट्टी द्वारा प्रदेश की मध्य भूमि को उपजाऊ बनाती हैं। नीची सतह की भूमि अथवा समुद्री तट का क्षेत्र समतल है तथा जीवन की गति से परिपूर्ण है और व्यापार, उद्योग तथा मछली

पकड़ने के कार्यक्रम की ध्वनि से अनुगूंजित है। समस्त क्षेत्र का प्राकृतिक-सौंदर्य अपूर्व है। मध्य भूमि तथा समुद्री-तट की भूमि पर आबादी घनी है तथा यहीं पर बड़े-बड़े शहर स्थित हैं। केरल की कोई भी भूमि बिना आबादी की नहीं है। उत्तर से दक्षिण की ओर बहुत-से बड़े-बड़े बंदरगाह और शहर हैं जैसे कन्नूर, वडकरा, कोथिलान्डी, कोजिक्कोड, आलपुजा, बेपूर, पोन्नानि, कोच्ची, कोल्लम, तिरूवनन्तपुरम् कोवलम, विजिन्जम, मुजुरी, क्रानगनूर, कोडुगल्लूर। अधिकतर समुद्री तट के निकटवर्ती स्थान समुद्र की ओर से आने पर विशिष्ट प्रतीत होते हैं। इसी कारण से समुद्र-तट के निकटवर्ती देश इस प्रदेश से लंबे काल से अपना संपर्क स्थापित किए हुए हैं। मोती, मसाले और सागौन की लकड़ी की खोज में विदेशी व्यापारी यहां पर आए। अरब देशों से इस्लाम केरल में बहुत जल्दी पहुंच गया तथा धर्म परिवर्तन भी होने लगा और इस्लाम धर्म इस प्रदेश में फैल गया। प्रारंभिक व्यापारी यूनान से आए और मुजुरिस वर्तमान क्रानगनूर अथवा कोडंगल्लूर नामक स्थान पर उतरे। मुजुरिस नाम पुराने कवियों के ग्रंथों में मिलता है। यह स्थान केरल में मुकिरिक्कोड कहलाता है। पुराने समय में केरल विदेशों में मोती तथा जवाहरात के लिए प्रसिद्ध था। अरब, ओरियन, बैबीलोनियन, फोनिशयन, इजरायली, ग्रीक, रोमन तथा चाइनीज प्रारंभिक काल से केरल तट से प्रभावित हुए। पूर्वी और उत्तरी सीमा की ओर समुद्र के उस पार स्थित प्रमुख प्रदेशों से केरल का संबंध अधिक निकट था। प्राचीन काल में कुछ जातियों का उत्तर की ओर से इस ओर आगमन हुआ जिसके कारण नेगरीटो और औस्ट्रायड मूल की जातियों के चारित्रिक गुणों के साथ उत्तर से आई जातियों का समन्वय हुआ। बाद में आर्यों ने यहां पर आक्रमण किए तथा यहीं पर बस गए। कुछ पहाड़ी जातियों तथा कुछ काले रंग की जातियों में द्रविड़ लोगों की विशेषताएं मौजूद हैं। परंतु अधिकांश हिंदू बाहर से आने वाली जातियों और मूल निवासियों का सुंदर समन्वय हैं। अपने पूरे इतिहास में केरल, देश से कटा हुआ रहा। नवीं शताब्दी में, शंकराचार्य द्वारा हिंदू-धर्म के पुनरुद्वार के विषय में बोलते हुए डॉ.के.एम. पनीक्कर ने कहा, "भारतीय इतिहास में यह केरल का प्रथम प्रवेश है।"[1] सर्वप्रथम विदेशी लोग केरल की ओर व्यापारिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए परंतु बाद में इनसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक संबंध स्थापित हो गए। संत थामस नामक देवदूत सन् 49 में केरल पहुंचे तथा बहुत से लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया। अधिकतर धर्म परिवर्तन उन लोगों ने किया जो अपने धर्म से अप्रसन्न तथा बहिष्कृत थे। वे ईसाई मत के प्रति आकर्षित हो गए। धर्म-त्याग द्वारा यहां पर जातीयता के पक्षपात से रहित स्वस्थ दृष्टिकोण का उदय हुआ। प्रारंभिक-काल से यहां मालाबार में यहूदी भी बस गए। मुस्लिम, ईसाई,

1. ए हिस्ट्री ऑफ केरल

यहूदी तथा हिंदू यहां साथ-साथ शांति और सद्भाव के साथ रहते रहे।

केरल प्रदेश के कई नाम थे चेरलम, चेरम, केरम तथा सेरम। चेरा नामक देश ईसा से तीन शताब्दी पूर्व भी वर्तमान था।[2] काडवैल ने 'कम्परेटिव ग्रामर ऑफ द्रवीड़ियन लैंगवेज' में कहा है कि केरम यहां का सबसे प्राचीन नाम था। यह एक वृक्ष (नारियल) का नाम है जो केरल में बहुतायत से होता है क्या वृक्ष का नाम ही प्रदेश का नाम है ? कुछ लोगों का मत है कि नारियल केरल में ईसा से पूर्व नहीं जाना जाता था। इस मत के पक्ष में कहा जाता है कि ग्रीक पेरिपलस (एक ग्रीक-ग्रंथ जो ईसा के पश्चात प्रथम शताब्दी में लिखा गया) तथा अन्य विदेशी यात्रियों के विवरण में इस वृक्ष का नाम नहीं है। एम.आर. बालकृष्णन वैरियर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन केरलम्' में लिखा है कि द्रवीड़ियन शब्द चेर में 'एल' को जोड़कर 'चेरल' शब्द बना है कि यह प्रदेश पहाड़ों द्वारा जुड़ा हुआ है। किंतु 'चेरल' क्रिया के रूप में समस्त शब्द का अर्थ बताने में असमर्थ हैं। प्राचीन तमिल पुस्तकों में व्यक्त किया हुआ मत अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार चेरा राजाओं को चेरालन् अथवा चेरलाटन कहते थे। संस्कृत में चेरा को केरा कहते हैं और आलम् का अर्थ है 'देश' इस प्रकार केरल का अर्थ है चेरा लोगों का देश। यही नाम नारियल के पेड़ को भी दिया गया जो यहां का प्रमुख फल है।

'करेलोलपन्ति' नामक प्राचीन ग्रंथ में केरल की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि परशुराम नामक पौराणिक नायक ने समुद्र में से जमीन को निकाला और चौंसठ ग्रामों (नम्बूदरी ब्राह्मण का गांव) का निर्माण किया तथा इन्द्र के पौत्र केरलन (जयंत के पुत्र) का नाम इन ग्रामों को दिया। जब परशुराम द्वारा निर्मित शासन असफल रहा तो लोग तिरुनावाय नामक स्थान पर एकत्रित हुए तथा उन्होंने निर्णय किया कि शासक (पेरूमाल) को बारह वर्ष के लिए बुलाया जाएगा। ब्राह्मणों (नम्बूदरी) ने शासक नियुक्त करने में निर्णायक भूमिका निभाई। उन्होंने पच्चीस पेरूमलों को दक्षिण भारत के चेरा, चोला और पांडया प्रांतों से बुलाया। केरलोलपन्ति में इन पच्चीस पेरूमालों का संपूर्ण विवरण है। अंतिम पेरूमाल का नाम चेरामन था। उसने इस्लाम धर्म को ग्रहण किया और अपने प्रदेश को अपने मित्रों तथा अधीनस्थ कर्मचारियों पर छोड़ कर मक्का चला गया। यह प्रदेश कई भागों में विभक्त हो गया और बाद में जमोरी लोग सत्ता में आ गए। सन् 1498 में पुर्तगालियों के आने तक कोजीकोड में उनकी सत्ता रही।

तमिलकम का अभिन्न अंग होने के नाते केरल का पश्चिमी-घाट के दूसरी ओर के प्रदेश से भाषा, रीति-रिवाजों तथा धार्मिक-मामलों में गहरा संबंध है। तमिल साहित्य तथा दक्षिणी भारतीय विचारधारा पर केरल का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

---

2. संकुन्नी मेनन इन त्रावणकोर हिस्ट्री

केरल के कवियों की संधम कविता का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है। चेरा राजाओं की राजधानी वांची (कोडूगटूर) थी। तमिलग्रंथ 'चिलपतिकारम' तथा 'मणी-मेखला' का चेरा प्रदेश तथा इसकी राजधानी से घनिष्ट संबंध था। 'चिलपतिकारम' के लेखक इलान्को अटिकल चेरा राजा के भाई थे परिपटल में वांची को मदुरई और उरयूर जितना महत्व दिया है। 'चिलपतिकारम' दक्षिणी भारत की कला और संस्कृति का विशेष ग्रंथ है तथा उससे केरल के लोगों ने सदैव प्रेरणा ली है कहा जाता है कि आर्यों के आने से पहले दक्षिण भारत में महान संस्कृति का विकास हुआ। रामायण, महाभारत, कालिदास का रघुवंश, सिंहली परंपरा, पेरीप्लस, टॉलमी का भूगोल इस बात का प्रमाण है कि दक्षिण भारत में स्वतंत्र तथा प्रगतिशील राज्य थे।[3] द्रविड़ों ने आर्यों के आने से पहले स्वतंत्र संस्कृति का निर्माण किया था। द्रविड़ ही तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ तथा अन्य जातियों के पूर्वज थे।

चेरा तथा केरल एक ही नाम हैं तथा इस प्रदेश का यही सबसे प्राचीन नाम है। गनहर्ट की डिक्शनरी में देखा गया है–केरम=चेरा=मालाबार=केरलम=चेरम्, गोकरम और कुमारी के बीच का प्रदेश। अल. बिरूनी (सन् 790-1039) ने इस प्रदेश को सबसे पहले मालाबार कहा। पश्चिमी तट के एक बंदरगाह को जहां काली-मिर्च पैदा होती है, विदेशी यात्रियों ने 'माले' कहा है। मालाबार माले शब्द से निकला है। कुछ लेखकों का मत है कि अरबी में 'बार' का तात्पर्य महाद्वीप होता है तथा 'माले' और 'बार' मिलकर मालाबार बना है। चीनी यात्री ह्वेनसांग (सन् 629-645) ने इस प्रदेश को 'मालकूट' अथवा 'मलयकट' कहा है। 'माला' द्रविड़ शब्द है जिसका तात्पर्य है पहाड़ और 'कुटम्' जिसका अर्थ है देश। 'मालानाडु' अथवा 'मालैनाडु' का अर्थ है पहाड़ों का देश।

मलयालम् का तात्पर्य देश तथा भाषा से है तथा इसका अर्थ है पहाड़ तथा लहरों का देश (माल-पहाड़ और अला-लहर)। इस प्रदेश के भाग्य-निर्माण में समुद्र तथा पहाड़ों का विशेष योगदान रहा है तथा बहुत-सी पौराणिक कथाएं तथा विश्वास इनसे जुड़े हैं। परशुराम की कथा इस प्रदेश के निर्माण के महत्वपूर्ण युग तथा लोगों पर प्रकाश डालती है। इस कथा को ऐतिहासिक सत्य नहीं कह सकते। विष्णु के अवतार परशुराम ने क्षत्रियों को मारने के अपराध से मुक्ति पाने के लिए ब्राह्मणों को भूमि दान दी। उन्होंने समुद्र के देवता वरुण से प्रार्थना की और समुद्र-देवता के आदेश से समुद्र पीछे हट गया। निश्चय ही यह उस युग की कथा है जब यह प्रदेश कुलीन ब्राह्मणों के आधिपत्य में आया। एक पौराणिक कथा यह भी है कि परशुराम ने अपना फरसा समुद्र में फेंका जहां तक वह फरसा गया वहां तक समुद्र पीछे हट गया। इस कथा को पूरी तरह से नकारा नहीं जा सकता।

3. द्रविड़ियन इंडिया, टी.आर.शेषा अय्यंगार, पृ.–185

विस्फोट से भौगोलिक परिवर्तन हुए। केरल की निचली भूमि समुद्र-तट से नीचे हो सकती है। संभव है कि भूमि के आंतरिक परिवर्तनों द्वारा यह ऊपर आ गई। यह कहना कठिन है कि अल्पूजा तथा कोची के बंदरगाह कब अस्तित्व में आए। डॉ. के.एम. पनीक्कर ने सन् 1341 के महत्व के विषय में लिखते हुए कहा है कि इस समय बहुत से भौगोलिक परिवर्तन हुए जिनका भारत तथा केरल पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।[4] अधिक बाढ़ के कारण पेरियार नदी ने समुद्र की ओर वर्तमान अर्नाकुलम् के पीछे रास्ता बना लिया जिससे कोचीन बंदरगाह का जन्म हुआ। सदियों से केरल की रूप-रेखा बदलती रही है। टॉलमी ने जिन शहरों का मुजरिस (क्रानगनूर) और कारकरी (वरकलै) के बीच में समुद्र तट पर होने का जिक्र किया है, वर्तमान शहरों में से नहीं हैं। भूमि कभी-कभी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है और कभी-कभी समुद्र में मिल जाती है। समुद्री-तट पर इस प्रकार के परिवर्तन अब भी होते रहते हैं। बहुत से समुद्री-तट, जहां नारियल की खेती होती है, समुद्र द्वारा निगल लिए जाते हैं तथा राज्य सरकार बहुत-सा धन व्यय करके, दीवार खड़ी कर-करके इस प्रकार के अतिक्रमण को रोकती है।

ऐसा भी देखने में आया है कि समुद्र के पीछे हट जाने पर नई भूमि निकल आती है। कोचीन के पास वैपिन नामक स्थान का निर्माण इसी प्रकार हुआ जैसा कि नाम से ही पता चलता है। वैपिन का अर्थ है बालू मिट्टी का जमाव। कडक्करा (काडल-समुद्र करा-किनारा) समुद्र तट से दूर है परंतु एक समय समुद्र-तट पर ही स्थित था। समुद्र कल्लाटिकाटन तक फैला था जो वास्तव में कटलाटिकाटन (वह स्थान जिससे समुद्र की लहरें टकराती है) हैं। परशुराम की कथा काल्पनिक पौराणिक कथा हो सकती है, परंतु इस कथा से लंबे तट के इस प्रदेश में आज भी होने वाले प्राकृतिक परिवर्तनों पर दृष्टि पड़ती है। कुछ लेखकों का मत है कि परशुराम की कथा अति प्राचीन नहीं हो सकती। उनका विचार है कि "इस चरित्र का निर्माण बाद में हुआ। परशुराम की क्षत्रियों से लड़ाई वास्तविक लड़ाइयों पर आधारित है जो (1400-1000 ई. पूर्व) पुजारियों तथा राजाओं के बीच हुई। इसी समय जाति प्रथा का भी निर्माण हुआ।[5] यदि यह कथन सत्य है तो केरल के निर्माण का दायित्व परशुराम को नहीं दिया जा सकता क्योंकि केरल के विषय में ई.पू. 150 में पतंजलि ने अपने ग्रंथों में लिखा है, "महाभारत, रामायण, वायुपुराण, मत्स्य पुराण तथा मार्कण्डेय पुराण में भी इस प्रदेश के विषय में चर्चा हुई है। महाभारत, रामायण तथा हरिवंश में केरल को हुन, पुलिंद, चांडाल, स्वपेच आदि

4. ए हिस्ट्री ऑफ केरल, पृ.–8

5. रोमेश चन्द्र दत्त इन एन्सिएन्ट इंडिया, खंड–I, पृ.–153

घृणित लोगों का स्थान बताया है।"[6] सम्राट अशोक ने ई.पू. 257 में केरल-पुत्र के विषय में चर्चा की है जिसका प्रदेश प्रतयांत अथवा सीमा-प्रदेश है।

आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में द्रविड़ों का साम्राज्य था। वे यहां की उन्नत संस्कृति के रक्षक थे। आर्य-संस्कृति के प्रभाव से वे मुक्त थे। पुराण में दक्षिण-भारत के प्राचीन निवासियों को दस्यु, वानर, चांडाल आदि शब्दों से संबोधित किया गया है जो कुछ हद तक अपमानजनक लगते हैं तथा दंडकारण्य को अप्रवेश्य जंगल के रूप में दर्शाया गया है जहां पर संस्कृति का कोई चिह्न नहीं था। यह बात अतिशयोक्ति लगती है। स्वयं आर्यों द्वारा रचित महाकाव्य इस बात का प्रमाण है। कुंभकर्ण की राजधानी किष्किंधा तथा रावण की राजधानी लंका दूसरी तरह का चित्र प्रस्तुत करती हैं। रावण की पत्नी मंदोदरी को पंच-कन्याओं अहल्या, कुन्ती, तारा और द्रौपदी के साथ गिना गया है। जिस उत्साह के साथ साधु-संतों ने अपने-अपने प्रतिद्वंद्वियों का गुणगान किया है उससे पता चलता है कि संस्कृति पर द्रविड़ों (का कितना प्रभाव था। आर्यों को द्रविड़ संस्कृति के संपर्क में आने का बहुत लाभ हुआ तथा समस्त देश में एक मिली जुली सभ्यता का विकास हुआ। द्रविड़ों पर आर्यों का प्रभाव पड़ा तथा आर्यों पर द्रविड़ों का परंतु इस प्रतिक्रिया में द्रविड़) दक्षिण भारत की तरफ एकत्र हो गए जहां पर तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि जातियों के पूर्वज रहते थे और उन्नत भी हुए। उस प्रदेश में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को तमिल कहा जाता था। इस परिवार की सभी भाषाओं में केवल प्रादेशिक अंतर था। मलयालम व्याकरण तथा अलंकार-शास्त्र पर चौदहवीं शताब्दी में लिखी गई पुस्तक लीलातिलकम में प्रारंभिक मलयालम भाषा के विषय में सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है—'तमिल' को 'मलयालम' भाषा के लिए प्रयोग करने से उसका स्वतंत्र-अस्तित्व समाप्त हो जाता है—वास्तव में केरल की साहित्यिक परंपरा तथा भाषा की विशेषता मलयालम को तमिल से भिन्न करती है। इस बात से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि ऊपर लिखी पुस्तक के अनुसार कन्नड़ और तेलुगु लोग तथा उनकी भाषा द्रविड़ परिवार को नहीं मानते हैं। इस पुस्तक के अनुसार तेलुगु और कन्नड़ से केरल और मलयालम में अधिक निकटता है। परंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आर्यों से पहले की समस्त भाषाओं का स्वतंत्र विकास होने लगा। केवल केरल भाषा ने आर्यों के प्रभाव से दूर रहकर अपने मूल-रूप को भावनात्मक-उत्साह से बनाए रखने का प्रयास किया। मलयालम स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हुई। तथा उसकी अपनी भाषाई-विशेषता बनी रही जो तमिल तथा तमिल से मिलती-जुलती भाषाओं से भिन्न थी। इस समस्त प्रतिक्रिया का गहरा प्रभाव पड़ा तथा संस्कृत भाषा से बहुत लाभ हुआ साथ ही

---

6. हिस्ट्री ऑफ केरल, के.पी.पद्मनाभ, खंड—I, पृ.—28

हानि भी बहुत अधिक हुई। द्रविड़ लोगों के अधिकांश शब्द-कोष या तो लुप्त हो गए या फिर उन्होंने दूसरा रूप ले लिया। पाट्टु साहित्य अथवा द्रविड़ों के आरंभिक गीत, जो पोरानानुरु में सम्मिलित हैं, मलयालम तथा केरल के विद्वानों के सम्मुख दार्शनिक समस्या उपस्थित कर रहे हैं। जन-जातियों में प्रचलित लोक-गीतों से पता चलता है कि पहले जो भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम थी और बाद में जो बोली जाने लगी उन दोनों भाषाओं में बहुत अंतर है। लोक-गीत भी पूर्ण-रूप से पुरातनता का प्रतीक नहीं हैं क्योंकि वह मौखिक परंपरा का प्रतीक है तथा उनमें पीढ़ियों के साथ परिवर्तन हो सकता है।

दो तीन हजार वर्ष पूर्व सामान्य लोगों का जीवन, जैसा कि संघम् साहित्य से विदित होता है, जाति-प्रथा पर आधारित नहीं था। जनता कार्य के अनुसार विभक्त थी। यह विभाजन भी इस बात पर निर्भर था कि उनके पास कौन-सी भूमि है। कुरिंची (पहाड़ी भूमि), पालै (मरुभूमि), मुलै (चरागाह), मरुतम (गीली भूमि) तथा नेताल (समुद्र-तट) बंटवारे के माध्यम थे। कुरिंची के शिकारी, पालै के योद्धा, मुलै के चरवाहे हैं, मरूनम के किसान तथा नेताल के मछुआरे एक ही जाति के थे। भूमि की वनस्पति के अनुसार, पांच प्रकार के प्रेम-गीत, संघम् के समय में प्रचलित थे। कुरिंची प्रदेश में विरह-गीत गाए जाते थे जिनमें मिलन के अनुभव का अभाव था। संभवतः इसका कारण पर्वतीय प्रदेश की दुरूहता थी। मुलै प्रदेश में गीत मिलन के उपरांत विछोह पर गाए गए क्योंकि इस खंड में प्रकृति इतनी जटिल और रहस्यमयी नहीं थी। मरुनम अथवा नदी के किनारे पर गाए जाने वाले गीत पारिवारिक थे तथा स्थिर जीवन के द्योतक थे। नेताल प्रदेश में लोग मछली पकड़ने के धंधे में लगे हुए थे और यहां के गीतों का स्वर अस्थाई विछोह है। पालै अथवा मरुथल के गीतों में विछोह अधिक लंबा है। विभिन्न कार्यो में लगी हुई द्रविड़ जातियों को उनके काले रंग के द्वारा पहचाना जा सकता था। कादरस काले ठिगने और सुडौल थे तथा उनकी चपटी नाक थी तथा लंबे, काले बाल थे। उनके रीतिरिवाज तथा व्यवहार परंपरागत थे। अधिकांश प्राचीन जातियां नैग्रीटो मूल की थीं। प्राचीन भारतीय प्रजातियों में नैग्रीटो जाति का प्रभाव नाक-नक्शा में दिखाई देता है। कादर उल्लाटन, पणियन और मलयन पहाड़ों और जंगलों में आर्य आक्रमणकारियों से दूर रहते थे। सर विलयम विलसन के अनुसार—"आर्यों के द्वारा उस भूमि से भगाए जाने पर जो कभी उनकी थी, वह पहाड़ियों में छुप गए जैसे मानव—अस्थिपंजर पहाड़ों में छुपे हुए रहते हैं और भूगर्भ विज्ञानियों को ढूढ़ने पर मिलते हैं कि ये आदिवासियों की मात्र सूखी-हड्डियां नहीं हैं बल्कि जीवित मानव-जाति के प्रतीक हैं।"[7] इन आदिवासियों के रंग-रूप पर आर्यो

7. इंटर्स इंडियन अम्पायर, पृ.-92

का प्रभाव नहीं पड़ा। आर्य आक्रमणकारियों से रक्षा हेतु लोग समुदाय में रहते थे और प्रकृति द्वारा अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरी करते थे। कादर जाति का धर्म अप्रौढ़ ब्रह्मवाद था। किसी भी बीमारी अथवा दुर्घटना के समय यह राक्षसों-पिशाचों का आवाहन करते थे। काली या अम्मन या अय्यन या अय्यप्पन की पूजा प्रचलित थी। पूर्वजों की भी पूजा की जाती थी। कोई भी पर्व बहुत उत्साह से मनाया जाता था तथा खूब नाच-गाना होता था। मलयन, कादर जाति के लोगों से अधिक लंबे थे परंतु उनकी भी नाक चपटी थी और होठ मोटे थे। पहले द्रविड़ जातियों में आपस में कोई भेद-भाव नहीं था परंतु धीरे-धीरे उन्हें अपनी महत्ता का एहसास होने लगा। एक वर्ग अपने को दूसरे से ऊंचा समझने लगा। सांसारिक विषयों में धर्मगुरु (मूपन) की आज्ञा के अनुसार अशौच के समय में कुछ कठोर नियमों का पालन किया जाता था। पहाड़ में रहनेवाले आदिवासियों का विश्वास था कि यदि स्त्रियों की अशुद्धता के समय का पालन नहीं किया गया तो समस्त जाति का विनाश होगा। पहाड़ के भगवान (दवंगल) नाराज होंगे। उनका विश्वास था कि धार्मिक-पूजा आदि न करने पर बीमारी फैलेगी, फसलों का नाश होगा तथा और दूसरी दुर्घटनाएं होंगी। "मलयन के स्पर्श से कादर भ्रष्ट होंगे तथा कादर के स्पर्श से मलयन"[8]। प्रत्येक जाति में यही विचार प्रचलित थे। 'परयन', 'पुलयन', 'नायडि' और 'उल्लाटन' जातियों के साथ चांडाल की भांति व्यवहार किया जाता था। नायडि को उल्लाडन से ऊंचा माना जाता था। कोई भी जाति दूसरी जाति को अपने से अधिक सम्मानित नहीं मानती थी।

बहुत सी प्राचीन जातियां केरल के अलग-अलग भागों में रहती हैं। "चेरमन का अर्थ है चेरुमक्कल जिसका तात्पर्य है कि ये खेतों के बेटे हैं। ('चेरा' का मतलब है 'सेतु' और मक्काल का मतलब है बच्चे।[9])" 'चेरू' का अर्थ है मिट्टी। इस शब्द का तात्पर्य इससे भी जुड़ा हो सकता है। 'चेरुमार' को 'चेरामर' भी कहते हैं जिसका अर्थ है चेरा भूमि के बेटे। ये जातियां खेतिहर हैं तथा इनमें 'पुलयन' अधिक हैं। इनका रंग काला है तथा बदन गठीला। पुराने समय में पुलयान बहुत स्वामीभक्त होते थे। उनके खेतों में दासों की भांति कार्य करते थे। पुलयन 'पुला' शब्द से बना है जिसका अर्थ है अशुद्ध। यह अर्थ ठीक है अथवा नहीं यह दीगर बात है, पर बहुत से लोग अपने को पुलयन् कहलाना पसंद नहीं करते। ये लोग अपने को चेरमर कहलाना अधिक पसंद करते हैं। परंतु पुराने लोग अपने को पुलयन कहने से अथवा अपने नाम के साथ पुलया जोड़ने में झिझकते नहीं थे। बहुत से लोग धर्म-परिवर्तन कर ईसाई बन गए क्योंकि हिंदुओं का उच्च वर्ग उन्हें अस्पृश्य मानता

---

8. द कोचीन ट्राइब एंड कास्ट्स, एल.के.अनंत कृष्ण अय्यर, पृ.–21

9. मालाबार एंड इट्स फोक, टी.के.गोपाल पनीक्कर, पृ.–126

था। उनका हिंदुओं में कोई उचित स्थान नहीं था। उन्हें तथा अन्य निम्न जातियों को, जिनमें एज़वास भी सम्मलित थे, विशेष सड़कों पर जाने की अनुमति नहीं थी। मंदिरों में भी उनका प्रवेश निषेध था। त्रावणकोर के महाराज श्री बाला रामवर्मा ने सन् 1936 में उन्हें मंदिर-प्रवेश की अनुमति दे दी। लाखों दुःखी लोगों के लिए, जिनके प्रति अब तक व्यवहार अपमानपूर्ण था, यह स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र था। इस घोषणा का समस्त भारत देश में स्वागत किया गया। इसके द्वारा समस्त भारत धार्मिक एकता की ओर अग्रसर हुआ।

अधिकांश हिंदुओं में अस्पृश्यता का अंत हो गया। इस प्रकार के प्रगतिशील घोषणा-पत्र का स्वाभाविक असर आस-पास के प्रदेशों, जैसे कोची और मालाबार पर भी पड़ा। त्रावणकोर के महाराजा श्री मुलाम तिरुनल के समय में जन-क्रांति हुई जिसका आगे चल कर निश्चित प्रभाव पड़ा। प्रदेश के मंदिरों को अस्पृश्य लोगों के लिए खोलने हेतु वाद-विवाद हुआ। यह विवाद आगे चलकर विख्यात वाईकोम के सन् 1924 के सत्याग्रह के रूप में परिणत हुआ। इस सत्याग्रह से बहुत से पुलया, एज़वा नायर और दूसरी हिंदू जातियों के लोग मंदिरों तक गए। वहां पर गिरफ्तारी दी। जिस समय सत्याग्रह चरम उत्कर्ष पर था, राजा साहब का देहांत हो गया। रानी सेतु लक्ष्मी बाई ने राज प्रतिनिधि का पद संभाला। महात्मा गांधी स्वयं वाईकोम गए। इस विषय पर कुछ समय के लिए निर्णय हो गया। कार्यकर्ताओं को सत्याग्रह से हटा लिया गया। समस्त हिंदू जाति के लिए सारे मंदिरों को खोल दिया गया। सन् 1931 में गुरुवायुर में एक और सत्याग्रह हुआ जिससे जाति-प्रथा को गहरा तथा स्थायी धक्का लगा।

ईसाई और हिंदू नेताओं के कारण पुलया जाति के लोगों को बार-बार धर्म-परिवर्तन करना पड़ा तथा इस जाति को बहुत कष्ट सहना पड़ा। जब इन दुर्बल व्यक्तियों को हिंदू-धर्म में स्थान नहीं मिला तथा उन्हें ईसाई धर्म ने आश्वासन दिया कि उन्हें हर प्रकार की धार्मिक सुविधाएं दी जाएंगी जो एक ईसाई को मिलती है तो वे उस ओर आकृष्ट हो गए। जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन कर लिया था उन्हें फिर से धर्म-परिवर्तन के लिए हिन्दू धार्मिक नेताओं ने उकसाया। अब पुलया लोगों में बहुत से लोगों के दो नाम हैं, एक हिंदू तथा दूसरा ईसाई और वे लोग तो कभी चर्च में जाते हैं और कभी मंदिर में, दोनों धर्मो में विश्वास रखते हैं या दोनों में ही नहीं रखते। पुलया और परयास को अपने अतीत पर गर्व है। महान साधु-कवि, तिरक्कुल के रचयिता तिरूवल्लुवर नयनार तथा उनकी बहन प्रसिद्ध कवयित्री (अव्वयार) परया जाति की थीं। शैव संत नंदनार भी परया जाति के थे।

'परच्चि पेट्टा पन्तिरुकुलम' (परया स्त्री से जन्मे 12 परिवारों की कहानी) और वररुचि जो काफी विद्वान तथा धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे और विक्रमादित्य राज्य से संबद्ध थे, के बेटों की कहानी भी केरल में बहुत प्रसिद्ध है। वररुचि ने परया लड़की से

भाग्यवश शादी की और फिर धार्मिक-यात्रा पर निकल गए। उनके बारह बच्चे हुए जिनकी बारह भिन्न-भिन्न जातियां थीं। सभी बेहद विद्वान थे और अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। इन सबको विष्णु का अवतार कहा जाता है। उनकी जाति ब्राह्मण (बड़ा बेटा अग्निहोत्री) से लेकर परया (पक्कनार) तक थी। पक्कनार तथा उसके भाइयों ने बहुत से अद्भुत चमत्कार किए जिनकी कहानियां केरल तक सीमित हैं। यद्यपि वररुचि का जिक्र विक्रमादित्य संबंधी कथाओं में आता है। नरनाथु प्रांतन बारह में से दूसरे भाई थे। अपने को पागल के समान प्रस्तुत करने के कारण इन्हें प्रांतन कहा गया। वे पहाड़ी पर से बड़े-बड़े पत्थर बहुत कठिनाई से नीचे गिराते थे तथा उन्हें तेजी से नीचे गिरते देखकर खूब प्रसन्न होते थे, विभोर होकर ताली बजाते थे। इस प्रकार वे जीवन पर हंसते थे। चमत्कार दिखाकर जीवन की व्यर्थता का बोध कराते थे। अच्छे कार्य करने की शिक्षा देते थे। ऐसी कहानियां केरल के पूर्वजों के दर्शन से परिचय कराती हैं। इन कथाओं से पता चलता है, अस्पृश्य तथा नीची जाति के लोग ऊंची संस्कृति की प्रगति के प्रतीक थे।

परया जाति के लोग काला जादू करने में सिद्धस्त हैं। चोरी आदि की घटनाओं में इन लोगों से सलाह ली जाती थी और ऐसा विश्वास था कि ये लोग चोरी की वस्तुओं को वापस दिला सकते हैं। कभी-कभी ये लोग अमानुषिक पद्धति भी अपनाते थे और शत्रु की मृत्यु तक हो जाती थी। जो भगवान उन्हें पराशक्ति प्रदान करता था, उसका नाम 'पराक्कुट्टी' था। वे उसे भेंट आदि अर्पण कर प्रसन्न रखते थे। कभी-कभी परया काला-जादू करने वाले को बिमारी आदि में बुलाते थे। वह 'ओटिविद्या का विद्वान होता था और शत्रु के शरीर के टुकड़े कर सकता था। परया अपने को जानवर अथवा चिड़िया के रूप में बदल सकता था तथा किसी भी स्त्री को बिना किसी के जाने उसके घर में मोहित कर सकता था। आजकल आधुनिक लोग ओटिविद्या पर विश्वास नहीं करते और यह विद्या प्रायः विलुप्त हो गई है। पालघाट और वल्लुवनाड तथा पहाड़ी और ग्रामीण क्षत्रों में काला-जादू का प्रचलन था। परया लोग इस विद्या को गुप्त रखते थे क्योंकि उन्हें उच्च लोगों की नाराजगी का भय था जिनके खेतों में वे रहते थे। ये लोग घास और बांस की चटाइयां और टोकरी आदि बनाते थे तथा पामरा पेड़ के पत्तों से छतरी बनाते थे, जानवरों की खाल उतारकर उसे बेचना भी इनका कार्य था।

पुलया और परया जाति के लोग मजदूरी करते हैं। एक समय उनपर उनके मालिकों का संपूर्ण अधिकार था। वे लोग खेतों में काम करते थे परंतु उनके मालिकों को उन्हें बेचने या किसी और को देने का अधिकार था। वे पुराने ढंग से मलयालम बोलते थे। वे 'मैं' और 'मुझे' के लिए 'एन' और 'अडियन' शब्दों का प्रयोग करते थे। ऊंची जाति के लोगों से बोलते समय यह उनकी हीनता का द्योतक था। ये लोग धान को नेलपतिरु कहते थे जिसका तात्पर्य छिलके मिला धान

था। इस सबसे पता चलता है निम्न जातियों की दशा कितनी दयनीय थी। एक चेरुमन को उच्च जाति के व्यक्ति से 30 फुट दूर खड़ा होना पड़ता था। वह कभी भी गांव के मंदिर तथा तालाब पर नहीं जा सकता था। इस नियम को भंग करने पर पवित्र होने का विधान पूरा करना पड़ता था। जब चेरमर गांव से निकलते थे तो उन्हें ओ-ओ-ओ कहकर आवाज निकालनी पड़ती थी जिससे बाकी लोग दूर हट जाएं और अपने को अशुद्ध होने से बचा लें।

इस प्रकार की सामाजिक-अवस्था, परेशानियों के बावजूद पुलया तथा परया जाति के लोगों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। एक ऐसे ही विशेष अधिकार का नाम था 'परण्पेटि'। इसका तात्पर्य परया-जाति द्वारा भय का निर्माण था। साल के एक विशेष दिन प्रत्येक परया को उनके स्वामी कुछ भी करने की स्वतंत्रता देते थे। यह दिन मलयालम महीने मकरम का 28वां दिन था। प्रचलन के अनुसार एक विशेष व्यक्ति इरुपथेटिचर (अर्थात 28 वें दिन का व्यक्ति) इसी दिन अवतरित होता है। 'चर' ग्रामीण भाषा में श्रद्धा का शब्द है। इस दिन परया ग्रामीण पगडंडियों पर कुछ भी करने को पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। उनके किसी भी कार्य को टोका नहीं जाता था और न ही उनके स्वामी प्रतिबंध लगाते थे। उच्च-वर्ग की कोई भी स्त्री घर से बाहर नहीं निकलती थी। यदि कोई भी लड़की घर से बाहर जाती थी तो परया इरुपथेटिचर उसको उठाकर ले जा सकता था और उसके साथ कैसा भी व्यवहार कर सकता था तथा उसे अपनी संपत्ति समझ सकता था। ऐसी लड़कियों को उसके माता-पिता सदैव के लिए खोया हुआ मान लेते थे। यह रिवाज कुट्टनाडु आदि स्थानों पर प्रचलित था। पलया और परया जाति के लोगों को वर्ष भर धान उपजाने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी और यही धान समस्त देश खाता था। ग्रामीण लोग बताते हैं कि निम्न-वर्ग के लोगों से चोरी और हत्या करवाकर उनके स्वामी कभी-कभी बहुत धन एकत्रित कर लेते थे। देश की स्वतंत्रता के बाद निम्न-वर्ग के लोगों के जीवन में पूर्ण परिवर्तन आ गया है उनको बहुत से अधिकार प्राप्त हो गए हैं और आरक्षण मिल गया है तथा वे लोग उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

कुछ जातियों ने प्रदेश की उच्च-संस्कृति को विरासत के रूप में पाया है। परंतु ब्राह्मणों द्वारा निर्मित जाति-भेद के कारण उन्हें नीचा ही समझा जाता है। ये लोग पुल्लवन, पानन या कणियान हैं जो गांव के गवैये या भाट हैं। ये गांव में गाने गाते हैं और उच्च संस्कृति के प्रतीक हैं। पुल्लवन सर्प के गाने गाते हैं तथा उन्हें सर्पों की उच्च जातियों पर आगाध श्रद्धा है और विश्वास है कि वे भूमि की रक्षा करते हैं तथा रास्ता दिखाते हैं। पुल्लवन और उसकी पत्नी पुल्लवट्टि पवित्र दिनों पर जैसे मलायम महीने के पलेले दिन या अश्लेष (एक नक्षत्र) के दिन, जिस दिन सर्प का जन्म हुआ, गांव में घर-घर जाते हैं। वे एक गीत (नावरुपट्टु) गाते

हैं जो बच्चों पर से बुरी नजर उतारता है। गाना गाते समय ये लोग वायलिन जैसे एक यंत्र को बजाते हैं जिसे वीणकुंजु कहते हैं तथा पुल्लवट्टि उसके साथ-साथ गाती है और एक डिब्बे पर बछड़े की खाल चढ़ाकर उसे एक डंडी से बजाकर लय देती है। तारों को लकड़ी या पत्थर से छेड़कर अलग-अलग स्वर निकालते हैं। सर्प-ईश्वर का आशीर्वाद लेने के लिए ये लोग पंपिनतुल्लल नामक धर्मिक रीति का अनुष्ठान करते हैं। बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था में पल्लवन अपना खर्चा आदि चलाने में असमर्थ है और दूसरे व्यवसायों की ओर भाग रहे हैं।

पानन को पिशाच-नर्तक कहते हैं। ये लोग पामरा पेड़ के पत्तों से छतरी बनाते हैं। इनकी स्त्रियां दाई का कार्य करती हैं। कहा जाता है कि ये मलयान जाति के वंशज हैं जो कि एक पहाड़ी जाति है। कटाई के समय ये लोग घर-घर जाकर बच्चों के शरीर से दुष्ट आत्मा को भगाते हैं। ये लोग अपने सुरीले गायन के लिए प्रसिद्ध हैं। पानन और उसकी पत्नी पानट्टि रात के समय घर-घर जाकर तुईलनर्टुपट्टु (जागने का गीत) गाते हैं। इनके गायन में साथ देने वाला यंत्र मदलम है। पानट्टि गाने में साथ देती है तथा धातु की बनी घंटी तथा चाकू से लय भी देती है। शिव और पार्वती उनके पसंद के भगवान हैं जिन्होंने उनके पूर्वजों को जीविका-अर्जन का आशीर्वाद दिया तथा उन्होंने गायन को अपनी जीविका का साधन बनया। गांव के घरों से उन्हें धान, गोला, नमक, तेल तथा कपड़े आदि भेंट में मिलते हैं।

वेलान भी पिशाच-नर्तक हैं। उत्तर के प्रांतों में पेरुवन्नान और मन्नान भी यही कार्य करते हैं। कन्नौर जिले के वन्नान, वेलार और मलयर थेयम तथा कलियट्टम के मूल नर्तक थे जो वैधानिक नृत्य हैं। जिसके द्वारा विशिष्ट और विलक्षण लिवास और सज्जा तथा पैरों के कसरती पदचालन तथा शास्त्रीय शक्ति को इन लोगों ने बनाए रखा है। थेयम केरल के ग्रामीण-जीवन के गौरवपूर्ण काल का प्रतीक है। मृत महान व्यक्तियों तथा देवी-देवताओं की आत्मा, इन नर्तकों में आकर, लोगों का सामयिक विषयों पर न्याय करती है। मलयान अर्थात् मला (पहाड़) के लोग प्रारंभिक थेयम नर्तक थे। उत्तरी मालाबार में इन लोगों को एजिनाडु, पूजिनाडु आदि स्थानों के द्रविड़ियन संस्कृति के भू-स्वामियों का संरक्षण प्राप्त था। नृत्य कला की रक्षा करने वाली आदिवासी जातियों को मेविलन, वेलन अथवा कोप्पलन आदि नामों से पुकारा जाता था। कुछ जातियां दक्षिणी कर्नाटक के टुलु प्रदेश की थीं, जो अब दक्षिणी कर्नाटक है, जिसकी किसी समय एक-सी संस्कृति थी।

एज़वा एक बड़ी जाति है जिसे चोवा भी कहते हैं। उत्तरी क्षेत्र में टिया भी इसी जाति में आते हैं। ये लोग केरल में एजाट्टुनाडु (सिंहालम का अपभ्रंश) से आए। जाफ़ना को उत्तरी श्रीलंका में एज़हम कहते हैं जहां से ये लोग प्रारंभिक-काल

में मालाबार आए। ये लोग समस्त केरल में खेती का काम करते हैं। परंपरागत रूप से ये लोग नारियल के पेड़ उगाते है। डा.के.एम. पनीक्कर के अनुसार, "ईसा पूर्व में ही सीलोन होते हुए पोलीनेशिया में नारियल की पहुंच हुई तथा खुली और सुसज्जित नावों के प्रचलन से बड़ी संख्या में एज़वा यहां आ गए।"[10] चोवान शब्द सेवक शब्द का विकृत रूप है। उत्तरी मालाबार के गाने में 'अरोमल चेवकर' को बहादुर नायक के रूप में दर्शाया गया है। कहा जाता है कि वे इसी जाति के थे। ये लोग बढ़िया सिपाही थे जिन्होंने देश की रक्षा की। राजा लोग इन्हें पदवियों से सम्मानित करते थे। चान्नान तथा पनीक्कर जैसी कई पदवियां अब भी कुछ परिवारों के पास हैं। एज़वा और नायर लोगों में काफी सामीप्य है। इन लोगों ने देश की रक्षा की है, परंतु नायर लोगों के विपरीत ये लोग श्रमिक हैं और अस्पृश्य समझे जाते हैं। ब्राह्मणों द्वारा बनाई हुई जाति-प्रथा ने प्रारंभिक जैन और बौद्ध धर्म को समाप्त कर दिया। इस जाति के लोगों ने पुनरुत्थान की आवश्यकता का अनुभव किया और दूसरी जाति के बहुत से अस्पृश्य लोगों को अपने में सम्मिलित कर लिया। अस्पृश्यता की सामाजिक बुराई के विरुद्ध समाज-सुधारक श्री नारायण गुरु ने आवाज उठाई जो एज़वा जाति के थे। उन्होंने अपनी जाति के लोगों से शिक्षा प्राप्त करने को कहा तथा अपने अज्ञान को दूर करने के लिए प्रेरित किया। अपनी ही जाति में मान के माप-दंड को लेकर लड़ाई-झगड़े प्रगति को रोकते हैं। लड़ाई-झगड़े बहुत-सी जातियों में प्रचलित हैं और इसका कारण जाति-प्रथा है। जातियों में झगड़े की भावना समस्त देश में प्रचलित है। एज़वा जाति के लोग अब आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

नायर द्रविड़ जाति के लोग हैं। ये लोग देश के सैन्यबल थे। द्रविड़ों के प्रशासन का सबसे प्रभावशाली भाग 'तरा' था जिसका अर्थ था मैदान या गांव। 'तरा' में रहने वाले निवासी एक छोटे से प्रजातंत्र में रहते थे जिसे गांव के वयोवृद्ध लोग चलाते थे।[11] नायर एक वंश है, जाति नहीं। इसमें बहुत सी जातियां सम्मिलित हैं, जैसे नाई(वेलाक्कितला), धोबी (विलुटेट्टु), तेली (चाक्कला), मंदिर पर आश्रित लोग इत्यादि। किरियम (संस्कृत शब्द ग्रहम का विकृत रूप) सबसे उच्च लोग थे और उनका स्थान केवल इल्लक्कार से नीचे था। ये लोग इलाम या नम्बूदरी ब्राह्मणों के घरों में काम करते थे। स्वरूपम क्षत्रिय लोगों के यहां कार्य करते थे। आजकल ऐसा भेदभाव नहीं है और सबको नायर कहा जाता है। पहले नायर आक्रमण करने में और आक्रमण से रक्षा में देश की सहायता करते थे। इस प्रकार उनका स्थान क्षत्रियों जैसा था। कुछ लोगों का विचार है कि नायर शब्द नागर से निकला है

---

10. ए हिस्ट्री ऑफ केरल, पृ.–3

11. लोगन : मालाबार, खंड .एए पृ.–88

और लोग प्रारंभिक समय में बंगाल से आने वाले द्रविड़ हैं। ये लोग सर्प के उपासक हैं। जाति-प्रथा के अनुसार ये लोग क्षत्रिय न होकर शूद्र हैं क्योंकि ये सब, ब्राह्मण और क्षत्रियों के यहां कार्य करते थे। ये लोग अपने स्वामियों के सैन्य-बल थे। इसलिए इन्हें पनीक्कर, मैनोन, कैमल, कुरुप आदि पदवियों से विभूषित किया गया। ये समस्त प्रदेश को सैनिक शक्ति प्रदान करते थे। इसे प्रसिद्ध कलारी-नियम कहते हैं। कलारी के कारण नायरों की सैनिक-प्रतिभा बनी रही। मध्य कालीन केरल में भू-स्वामियों के बीच लड़ाई-झगड़े चलते रहते थे तथा उन्हें रक्षा के लिए सदैव सैनिक रखने पड़ते थे। व्यक्तिगत अथवा लोगों से संबंधित झगड़ा निपटाने में दो महारथियों की लड़ाई को 'अंकम' कहते थे। कलारी के शिक्षकों को गुरुकुल, पनीक्कर या कुरुप कहते थे। प्राचीन केरल में प्रत्येक युवक को कलारी की शिक्षा दी जाती थी। मित्रता में की गई प्रतियोगिता (ओणत्तल्लु) में युवक अपने व्यायाम की योग्यता को प्रदर्शित करते थे। कलारी की शिक्षा करकितकम के प्रथम दिन (जुलाई) में आरंभ होती थी तथा महीने के अंत में समाप्त होती थी। आयुर्वेद विशेषज्ञों के अनुसार यह महीना शारीरिक व्यायाम के लिए सबसे अच्छा है, क्योंकि इन दिनों वर्षा होती है। गुरु विद्यार्थियों के शरीर पर हथेली, पैर या टखनों से तेल लगाते थे। वे केवल कमरबंद पहनते थे। नायर लोगों में संपत्ति मातृ-पक्ष में मिलती है जिसे मुरुमक्कत कहते हैं। एज़वा में भी यही नियम प्रचलित थे। इस प्रथा के अनुसार संपत्ति का अधिकार स्त्रियों के वंशजों को मिलता है। स्त्रियों को सामाजिक स्वतंत्रता थी तथा वह अपनी जाति से बाहर, अधिकांशतः नम्बूदरी ब्राह्मण से विवाह कर सकती थीं। नम्बूदरी परिवार का सबसे बड़ा लड़का ऐसा विवाह नहीं कर सकता था। परंतु छोटे लड़कों को परिवार की उन्नति के लिए कार्य करना पड़ता था। उम्र अथवा परिवार के कामों में व्यक्ति के योगदान से इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता था। परिवार की संपत्ति पर हर पुरुष, स्त्री तथा स्त्रियों के बच्चों का समान हक था, परिवार के सबसे छोटे लड़के को अपनी संपत्ति, अपनी पत्नी या बच्चों को देने का अधिकार नहीं था। जो नम्बूदरी ब्राह्मण बाहर की स्त्री से शादी करता था, वह आर्थिक रूप से पत्नी तथा बच्चे का जिम्मेदार नहीं था। लोगन ने नायर परिवार के पतियों के विषय में 'गुण-दोषकरण' लिखा है—'गुण' अर्थात अच्छा, 'दोष' अर्थात् बुरा और 'करण' अर्थात करने वाला।[12] विवाह संबंधी नियम बहुत कड़े नहीं थे। पिता का बच्चों के प्रति कोई आर्थिक कर्त्तव्य नहीं था। परिवार एक धरोहर था जिसे उसका सबसे बड़ा पुरुष सदस्य चलाता था परंतु उसके बच्चों को पारिवारिक संपत्ति पर कोई अधिंकार नहीं था। संपत्ति पर अधिकार केवल स्त्रियों का था।

---

12. वही, पृ.—135

मलयाली ब्राह्मण या नम्बूदरी अधिकांशतः भूमि के स्वामी थे। वे अपना संबंध प्रागैतिहासिक काल बताते हैं, जब परशुराम ने वंशों की स्थापना की थी। परंतु, इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इसी बात को दूसरी तरह से समझाया गया है, "मालाबार में जातियों ने अंतिम रूप आठवीं सदी में लिया और इसी समय नम्बूदरी ब्राह्मणों की शक्ति और प्रभाव बढ़ा। जो आर्य जैन पहले आए थे, समाज बनाने में समर्थ हुए, क्योंकि उन्होंने ही जातियों को आर्यो की भांति संयुक्त रूप दिया, परंतु समाज को धार्मिक-रूप वैदिक-ब्राह्मणों ने दिया जिसके द्वारा जाति प्रथा मोटे तौर से हिंदू समाज चार भागों में विभक्त था[13]– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किंतु सबसे निम्न वर्ग में वे थे जो जाति से वंचित थे। ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त थे तथा उन्हें समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था, जिसका आरंभ चतुर्वर्ण से हुआ। चेरमन पेरुमाल ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और इस प्रकार की व्यवस्था की भर्त्सना की जिससे व्यवस्थित सामाजिक प्रणाली में हलचल मच गई। उन्होंने नम्बूदरी ब्राह्मणों को दुख देना आरंभ किया। कहा जाता है कि नम्बूदरी ब्राह्मणों ने त्रिकारियुर के मंदिर में शरण ली तथा अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने के लिए राजा से युद्ध करने की तैयारी करने लगे। प्रसिद्ध ग्राम्य-नाटक यात्रा-काली, जो अब प्रायः लुप्त हो गया है, ब्राह्मणों द्वारा उस समय बनाया गया था जब राजा के विरुद्ध वे षड्यंत्र कर रहे थे। नाटक में सामाजिक बुराइयों पर व्यंग्य है तथा तत्कालीन समाज का चित्रण है।

तमिल-ब्राह्मणों को जाति-प्रथा में सदैव ऊंचा स्थान मिला, परंतु इस प्रथा के अंतर्गत नम्बूदरी ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। यात्राकाली नाटक में वे नायर, कोकण, ब्राह्मणों इत्यादि की बुराई करते रहते थे। नम्बूदरी ब्राह्मणों को धार्मिक रीति-रिवाजों में आस्था थी। वे जीवन को हंसी-खुशी से भी बिताना जानते थे। उन्होंने मलयालम कविता, नाटक, फलित ज्योतिष, नक्षत्र-विद्या, वैद्यक तथा कलाओं की प्रगति में विशेष योगदान दिया। उनमें बुद्धि की तीव्रता तथा आनंद-वृत्ति पर्याप्त मात्रा में थी और यही उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी था जो उनकी कविता में दृष्टिगोचर होता है। यह कविता उस समय लिखी गई जब मलयालम पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा तथा इस कविता में ऊंचे आदर्श भी थे और कल्पना की उड़ान भी थी। उन्होंने चकयार को नाट्य कला को पूर्णता देने के लिए प्रेरित किया। केरल के मंदिर-नाटक में कुतु और कुडियट्टम उनकी कला के माध्यम थे। चकयार नाटकों में अभिनय करते थे। नंबियार और उनकी स्त्रियां तथा नंगियार चकयार को नाटकों में सहायता देते थे तथा कुतु और कुडियट्टम करते समय वाद्य बजाते थे। नंगियार कुज़ित्तलम (छोटा मंजीरा) बजाते हैं, नंबियार मिज़ाब बजाते हैं जो प्रतिघात से बजता है।

---

13. वही, पृ.–116

ब्राह्मणों की बहुत सी उपजातियां हैं जैसे इलयतु, मुत्ततु, उन्नी, पिशारोटि, नंबिटि, गुरुक्कल आदि। इनमें से बहुत से लोग मंदिरों से जुड़े हुए हैं और अंबलवासियों से जुड़े हैं। पिशरोटि जनेऊ नहीं पहनते। कहा जाता है कि धार्मिक साधना की कठिनाइयों से घबराकर कुछ ब्राह्मण भाग खड़े हुए इसलिए उन्हें पिशारोटि कहते हैं अर्थात भागे हुए। यद्यपि ये लोग मंदिरों से जुड़े है परंतु जैन-धर्मावलंबियों की मृत्यु के रीति-रिवाज मानते हैं। इलयतु नायर जाति के परंपरागत पुरोहित हैं तथा वे उनके मुत्यूपरांत रीति-रिवाजों को संपन्न करते हैं। ये लोग जनेऊ पहनते हैं और मंदिरों में पूजा करते हैं। परंतु नम्बूदरियों के समान भव्य नहीं हैं। पुष्पक और वारिचर, देवता को चढ़ाने के लिए, फूल-मालाएं बनाते हैं। वारिचर लोग अपने संस्कृत साहित्य के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं। मारान, जो नायर जाति के हैं, मंदिरों में गाना-बजाना करते हैं और गाने की सोपानम्-पद्धति के रक्षक हैं। ये लोग प्रतिघात-वाद्य जैसे मदलम, चेंडा डक्का आदि में सिद्धस्त हैं। पोडुवाल भी मंदिर के गायकों में से एक हैं।

मंदिर ग्राम्य-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यहां पर सब हिंदू त्योहारों के समय एकत्र होते हैं और सामाजिक-जीवन में भाग लेते हैं। देश के और भागों से विपरीत, केरल में मंदिर की सीमा में कड़े अनुशासन का पालन किया जाता है। पवित्र-स्थल की भीतरी सीमा 'नालंपलम्' में कोई भी बिना कमीज उतारे नहीं जा सकता। परंपरागत मंदिर में जाने से पहले स्नान करना आवश्यक है। मलयाली लोगों को अपने सीधे-सादे, साफ-सुथरे कपड़ों पर गर्व है। संभवतः इसका कारण उनका मंदिर से संबंध है। हिंदू-धर्म को न मानने वालों को मंदिर में जाने की आज्ञा नहीं है। यद्यपि इस विषय में कोई विशेष नियम बताए नहीं गए हैं। यदि कोई व्यक्ति जो हिंदू भी नहीं है और रामकृष्ण-मिशन आदि से यह लिखवाकर ले आता है कि उसे हिंदू-धर्म में आस्था है तो वह मंदिर में जा सकता है।

ईसा के एक सदी बाद संत थॉमस के आगमन पर भारत देश में ईसाई-धर्म का प्रवेश हुआ। ईसाई धर्मावलंबी सर्वप्रथम मुजरिस में उतरे जो उस समय व्यापार का बहुत बड़ा केंद्र था। पिता और पुत्र के नाम पर ईसाई धर्म में परिवर्तन कराना वह अपना महान कर्त्तव्य समझते थे। क्राइस्ट में आस्था रखने वाले बहुत से लोग इस कार्य में लग गए। संत थॉमस मालाबार गए अथवा नहीं इस विषय में मतभेद है। परंतु मालाबार में ईसा की पहली शताब्दी के प्रारंभ से ही ईसाई मिशनरी अपने कार्य में संलग्न हैं। इस धरती से ईसाइयों का बहुत पुरातन संबंध है। सीरियन ईसाई चर्च इस देश में सबसे पुराना है। केरल के ईसाई बेहद शांतिप्रिय हैं तथा अन्य जाति के लोगों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं। प्राचीन काल से ही देश के राजाओं तथा सत्ताधीशों ने उन्हें अपना धर्म मानने की अनुमति दी। उन्हें देश के नागरिकों के समस्त अधिकार प्राप्त थे। ईसाई धर्मावलंबियों में कभी-कभी सिद्धांत

पर मतभेद हो जाता है। पुर्तगालवासी हिंदुओं को ईसाई धर्म में परिवर्तित करते समय सीरियनों को रोमन-धर्म में बदलना चाहते थे। जैकोबाइट सीरियन, पुरातनपंथी जैकोबाइट सीरियन, मारथोमा सीरियन, लैटिन कैथोलिक, सीरियन कैथोलिक में थोड़ा-थोड़ा मतभेद है परंतु उन्हें क्राइसट में गहरी आस्था है। ईसाई लोग इस प्रदेश में बहुत अमीर और प्रभावशाली हैं। यहां के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर उनका गहरा असर है।

इस प्रदेश में मुसलमान भी समुन्नत जाति के हैं। ये लोग केरल में अरेबिया से आए तथा प्रारंभ से इनका प्रभाव कालीकट में था। इनकी जनसंख्या बढ़ गई तथा व्यापार आदि में इनका और जातियों से संबंध बढ़ा। स्थानीय रीति-रिवाजों में भी औरों से भी संबंध बना। बहुत से उच्च-वर्ग के लोग भी मुसलमान बन गए। उत्तरी भारत में इस्लाम धर्म की प्रगति उनकी राजनीतिक प्रगति के कारण हुई। इस कारण हिंदू-मुसलमानों में वैमनस्य की भावना पलती रही। दक्षिणी-भारत में एक से दूसरे धर्म में परिवर्तन के कारण तथा आपस में शादियां होने के कारण हिंदू-मुसलमानों में कभी-कभी वैमनस्य की भावना आती रही, परंतु अधिकांशतः दोनों धर्मों के लोग स्वस्थ सामाजिक जीवन जीते थे। अल्पसंख्यक होने पर भी मुसलमानों का राजनीतिक प्रभाव है और लगभग बारह निर्वाचन-क्षेत्रों में इनका स्थान है। केरल के मुसलमान अर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगति कर रहे हैं।

केरल तट से यहूदियों के संबंध का पुराना इतिहास है तथा यह संबंध मोजिज महान के समय से आंरभ हुआ। इनके व्यापारिक संबंध बढ़ते ही गए। प्रारंभिक काल में वेपुर का विशेष आकर्षण था क्योंकि यहां दक्षिण-पूर्व वयनाड से नदी द्वारा पर्याप्त मात्रा में सोना आता था। यहूदी बहुत से तटवर्ती स्थानों पर बस गए। ये लोग स्थानीय राजाओं को उपहार आदि देते थे। राजाओं ने इन्हें कुछ अधिकार तथा पदवियां दे रखी थीं। ये लोग सर्वप्रथम क्रांनगनूर में बसे। बाद में ये लोग कोचीन आए। वहां पर उन्होंने यहूदी शहर बसाया तथा सन् 1567 में अपना पूजा-स्थल बनाया। यहूदी बहुत ही कम संख्या में केरल में रहते हैं फिर भी उनका इस भूमि से पुराना संबंध है।

हम देखते हैं कि केरल में अलग-अलग धर्म, विश्वास और दृष्टिकोण के लोग सदियों से काफी हद तक शांति और सद्भाव के साथ-साथ रहते आए हैं। देश के स्वतंत्र होने के उपरांत लोगों के दृष्टिकोण में पूर्ण-रूप से अंतर आया है। अब सामाजिक एकता को निश्चित वास्तविकता मान लिया गया है जो स्वतंत्रता का परिणाम है। हम पूरी आस्था से विश्वास करते हैं कि सब लोग बराबर हैं तथा किसी भी व्यक्ति या समुदाय का विशेष अधिकार नहीं हो सकता तथा सामाजिक उच्च स्थान के कारण कोई भी किसी को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग में नहीं ला

सकता। यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार के मूलभूत परिवर्तन होने के बावजूद जाति तथा धर्म जीवन के सभी क्षेत्रों में मानवीय संबंधों को निर्धारित करते हैं। बहुत से भूमि संबंधी सुधारों के कारण भूपतियों का स्वामित्व समाप्त हो रहा है परंतु एक नई राजनीतिक सत्ताधारियों की विशेष अधिकार युक्त श्रेणी उत्पन्न हो गई है। लोकतांत्रिक ढांचे में इनका बहुत प्रभाव है। यह बात केवल एक राज्य के लिए नहीं, बल्कि समस्त देश के लिए सत्य है। स्वतंत्रता का तभी अर्थ है जब हम जिसकी शिक्षा देते हैं और जो प्राप्त करते हैं, उसके गहरे अंतर को समझ सकें।

केरल के लोगों की यह विशेषता है कि वह चाहे किसी भी धर्म अथवा जाति के हों, उनका बाहृय तथा आंतरिक जीवन सीधा-सादा है, उनकी सादी वेश-भूषा से जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण का पता चलता है उनका शांतिप्रिय स्वभाव उन्हें देश का कर्मठ कार्यकर्ता बनाता है।

2
मिथक एवं पौराणिकी

मिथक का अर्थ है वह कहानी जिसका वास्तविक अर्थ उसमें छुपा हुआ है। यह काल्पनिक लग सकती है परंतु यह एक ऐसा दृष्टांत है जो कभी हुआ हो परंतु बाद में मानव-समाज ने उसे अलग अर्थ दे दिया हो। देवी-देवताओं तथा पराक्रमी पुरुषों की चमत्कारी कथाएं सत्य को असत्य लगने वाले वातावरण में प्रस्तुत करती हैं तथा इन कथाओं का साधारण जनता में आंतरिक तथा गुप्त आकर्षण है जो उनके विश्वास और कार्यो में प्रतिबिंबित होता है। हम देखते हैं कि प्राचीनतम मानव के समय से उसके धार्मिक विश्वास तथा कार्य व्यक्तिगत नहीं हैं बल्कि समस्त जाति से संबंधित हैं। यद्यपि यह सत्य है कि धार्मिक-आस्थाओं को जन्म अकेला व्यक्ति उस समय देता है जब वह समस्त जाति से दूर होकर अकेले में प्रकृति के रहस्य पर विचार करता है। समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नियम भी एकाकी व्यक्ति की आत्मा द्वारा प्रेरित होते हैं तथा जिन बातों को समाज स्वीकार नहीं करता वह भी एकाकी व्यक्ति की आत्मा द्वारा निर्धारित है। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तो जीवित बचे रिश्तेदारों को शांति तथा अपने जीवित रहने का सहारा चाहिए। उन्होंने मृत व्यक्ति की आत्मा की कल्पना की जिससे उन्हें सांत्वना मिलती है कि मृत्यु के बाद उनके प्रिय जन का पुनर्जन्म होगा, आत्मा के अमरत्व में विश्वास द्वारा मनुष्य का अंतर्मन मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना करता है और उसे मृत्यु के उपरांत पूर्ण-समाप्ति के भय से मुक्ति मिलती है।

इस प्रकार मनुष्य के विश्वास समाज के विश्वास बन जाते हैं तथा व्यक्ति की बहुत सी कठिनाइयों को दूर करने में सहायता करते हैं। किसी व्यक्ति के जीवन की साधारण सी घटना के सामाजिक परिणाम हो सकते हैं तथा वह घटना अपनी वास्तविकता को भूल कर दूसरा ही रूप ले लेती है जो इसे मिथक का रूप दे देता है। मानव का अनुभव जब मिथक का रूप ले लेता है तो वह आने वाले समय के लिए अर्थपूर्ण हो जाता है जिसकी व्याख्या आने वाली संतति करती है और अगली पीढ़ियों के साथ अर्थ का महत्व बढ़ता जाता है। मृत्यु शारीरिक-रूप से

मनुष्य का अंत है तथा जीवित लोगों में खोने की भावना को जाग्रत करती है, साथ ही साथ आत्मा के रहस्य का उद्‌घाटन करती है। इस विश्वास से कि आत्मा जीवित रहती है लोगों को शांति मिलती है। मिथक अपने को धार्मिक आस्था के रूप में प्रकट करते हैं तथा इनमें मानव मस्तिष्क की इच्छा, कल्पना, आशा और निराशा ऊंची उड़ानें भरती हैं जिसका चमत्कारी प्रभाव पड़ता है।

'ओणम' इस प्रदेश के दयाल राजा की समाप्ति की कहानी है। ओणम से संबंधित उत्सव प्रत्येक मलयाली को कल्पना की ऊंचाइयों पर ले जाता है और वह अपने पूर्वजों के सुखी और संपन्न जीवन के विषय में सोचने लगता है। ओणम का त्यौहार वामन की याद दिलाता है जो स्वयं आहार के भगवान के अवतार हैं तथा दयालु विपक्षी राजा महाबली की भी याद दिलाते हैं। यह दोनों ही जीवन के उच्च आदर्शों के प्रतीक हैं। महाबली दानव राजा थे तथा किसी भी मंदिर में भगवान के रूप में उनकी पूजा नहीं होती परंतु उनके इस प्रदेश में काल्पनिक आगमन को शुभ और उत्साहवर्धक, घटना माना जाता है, ओणम पर्व चिंगम के महीने (अगस्त-सितम्बर) में दस दिन तक मनाया जाता है तथा लोग इन दिनों उत्साह से नाचते-गाते-खाते और प्रसन्न होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने राजा के आगमन पर प्रसन्न होता है जिसके समय में प्रत्येक व्यक्ति समान था, जीवन धन-धान्य से पूर्ण था और चारों ओर शांति थी। महाबली के प्रति भक्ति एक आदर्श कल्पना है तथा वामन के प्रति श्रद्धा व धार्मिक उत्कंठा है तथा इस प्रकार लोगों की स्वाभाविक प्रकृति में संतुलन हो जाता है। मनुष्य की धार्मिक तथा सांसारिक अभिलाषा इस बिंदु तक पहुंच जाती है कि वह एक काल्पनिक भूत की कल्पना करते हैं तथा सुंदर भविष्य की प्रेरणा लेते हैं। अज्ञात मूल का एक गीत पुराने समय की समृद्धि का गान करता है तथा लोगों के हृदय में स्थान बना लेता है—

"जब महाबली का प्रदेश में राज्य था...
सब व्यक्तियों का बराबर समुदाय था

सब व्यक्ति प्रसन्न और मोहित रहते थे
सब लोग हानि से दूर थे।

कहीं चोरी नहीं थी, कहीं धोखा नहीं था
कोई व्यक्ति कहीं झूठ नहीं बोलता था

तौल के तब साधन ठीक थे।
कोई धोखा नहीं देता था, कोई बेईमान नहीं था।

जब महाबली का प्रदेश में राज्य था...
सब लोग बराबर सामूहिक गीत गाते थे।[1]

सामाजिक तथा सांसारिक विषयों को आदर्श का रूप देकर धार्मिक ऊंचाई तक पहुंचा देने की भावना मृतक व्यक्तियों की पूजा में निहित है। तेय्यम के शास्त्रोक्त नृत्य में आदि-व्यक्तियों ने अपने जीवन के अनुभव को विधि-विधान द्वारा धार्मिक-रूप दे दिया तथा अपने अमूर्त दृष्टिकोण को भांति-भांति का मूर्त्तरूप प्रदान किया। आत्माओं को बुलाया जाता है जो मृतक के शरीर में प्रवेश करती हैं और लोगों को आर्शीवाद देती हैं। तेय्यम कलियाट्टम से निकला जो उत्तर भारत में आदिवासियों में प्रचलित था तथा बाद में और जातियों में भी प्रचलित हो गया। यह मंदिरों से संबंधित वार्षिक उत्सव है तथा मचिलोड, काव्, पल्लियरा, मुडय, तानम, माउप्पुरा आदि कन्नौर प्रांत में स्थित मंदिरों से संबंधित हैं। ये सभी स्थान दक्षिणी कन्नड़ के निकट हैं। तेय्यम का आधुनिक रूप सदियों में विकसित हुआ है, इसमें भाग लेने वाले लोग मन्नान, वेलन और मलयान जातियों के हैं। भूपतियों अथवा मुखिया लोगों ने इन कलाकारों को संरक्षण दिया, बहुत से नए विषयों को इसमें जोड़ा तथा भिन्न-भिन्न जातियों को विस्तार करने का अवसर दिया। उनमें से सबसे सुंदर को 'पेरुवणम', 'पेरुमलयन्' की पदवी दी गई। ऊपर वर्णित मंदिरों में आत्माओं को सदियों से बुलाया जाता है। चरित्र और शक्ल-सूरत के अनुरूप इन्हें कई भागों में बांटा जा सकता है जैसे शैव, वैष्णव, सर्प, मनुष्य के अलग-अलग रूप। कुछ आत्माएं बहुत भयानक हैं और खून पीना चाहती हैं (जैसे कारीचामुंडी)। इनमें से कुछ को शराब चढ़ाई जाती है। जब भी कोई महामारी फैलती है तो समस्त जाति उस महामारी की आत्मा की पूजा करती है जिससे वह आत्मा शांत हो जाए। काली, चामुंडी, भगवती आदि बहुत सी देवी हैं, जो शक्ति अथवा परमेश्वर के रूप हैं तथा भैरवन्, गुलीकन्, विष्णुमूर्ति, पोट्टन आदि बहुत से देवता भी हैं जो शैव और वैष्णव विश्वासों के प्रतीक हैं। कुछ जानवरों की भी आत्माएं हैं जैसे बालि हनुमान, पुलि इत्यादि। तेय्यम के अंदर वह चरित्र भी दर्शाए गए हैं जो अपनी बहादुरी के कारण लोगों में प्रिय हैं जैसे कटिवन्नूर वीरन में। अन्यायपूर्ण लोगों के हाथों जनता के दुःख को भी दिखाया गया है—जैसे 'तेय्यम' में 'माक्कम'।

तेय्यम मनुष्य द्वारा सृजित है। यह लोगों की बेईमानी और बुराइयों के विरुद्ध, मनुष्य की तीव्र भावनाओं को दर्शाता है तथा समाज का हित चाहता है। तेय्यम के काल्पनिक चरित्रों के पीछे का दर्शन केवल सांसारिक-रूप से कृत्रिम-चरित्रों को रीति-अनुसार दर्शाना नहीं है। इन चरित्रों का प्रभाव भी केवल

---

1. ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ मलयालम लिट्रेचर, डॉ. अय्यप्पा पनीक्कर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा प्रकाशन विभाग, केरल सरकार से प्रकाशित

कुछ समय के लिए नहीं है। यह विद्या अज्ञात, अप्राप्य व अगाध शक्तियों का आह्वान करती है तथा उन्हें मनुष्य के रूप में चित्रित करती है, उनसे बातचीत कर आदर्शों को स्थापित करती है। यह विश्वास और दृष्टिकोण एक पवित्र परंपरा बन गया जो वर्षों के सांसारिक अनुभव पर आधारित है तथा उसे पीढ़ियों की मान्यता प्राप्त है। तेय्यम पुरातन से निकलकर आधुनिक समाज को मिथक के रूप में प्रेरणा देता है। इस मिथक का मूल-स्रोत मानवीय-भावना है। परंतु अब यह केवल व्यक्तिगत नहीं रह गया है, बल्कि समस्त लोगों की भावना ने इसे मिथक का रूप दे दिया है और पीढ़ी दर पीढ़ी यह अधिक प्रभावशाली हो गया है। किसी भी मंत्र को बार-बार पढ़ने से उसका असर बढ़ जाता है। मिथक से जुड़ी हुई भावनाएं भी अलौकिक और असांसारिक बन जाती हैं। यद्यपि प्रारंभ में उनका संबंध वास्तविक जीवन से ही होता है। संस्कृत भाषा में संस्कार शब्द का अर्थ संस्कृति शब्द से कुछ अधिक है। संस्कार में मृत्यु संबंधी रिवाज भी सम्मिलित है। जीवित लोग इन संस्कारों को पूरा करने पर केवल मृतक के शरीर को पवित्र ही नहीं करते, बल्कि एक संस्कृति के वारिस बनते हैं। तेय्यम नृत्य में जब लोग आत्मा को बुलाते हैं तो इस युग के लोग उनमें पवित्रतम और उच्चतम भावनाओं को भर देते हैं, जो पुरातन का प्रतीक है।

तेय्यम नृत्य में सिर का मुकुट तथा मुखौटा प्राकृतिक वस्तुओं से बनाया और रंगा जाता है जिससे विचित्र शक्ल बन जाती है और बेहद कलात्मकता और भावनात्मकता का प्रदर्शन होता है। यहां पर अज्ञात को ज्ञात कराया जाता है। यहां जो पहुंच से बाहर है वह वास्तविक बन जाता है। यह कलात्मक रूप से स्वीकार करने योग्य, और आनंददायक होता है। मनुष्य अपनी-धार्मिक शक्तियों के कारण स्वयं अपना नमन कर लेता है। यह उसके पीढ़ियों से चले आए आदर्श अुनभवों का रूप है तथा इसका लौकिक रूप इसे युक्ति देता है जो निरीक्षण और अभ्यास पर निर्भर है। गांव संबंधी समस्याओं पर तेय्यम नृत्य में न्याय किया जाता है। चूंकि गांव के जीवन में मंदिर का विशेष स्थान है तथा प्रतिष्ठित देवी-देवता प्रत्येक समस्या का कारण बताने वाले हैं इसलिए प्रत्येक समस्या का हल न्यायपूर्ण ही होना चाहिए, ऐसी आशा की जाती है। बच्चे प्राप्त करने के लिए, न्यायालय में मुकदमा जीतने के लिए, दुरात्माओं को भगाने के लिए, महामारी रोकने के लिए तथा इसी प्रकार की और व्यक्तिगत और सामाजिक इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए तेय्यम नृत्य किए जाते हैं। सामाजिक रूप से रीति-रिवाजों का महत्व बढ़ जाता है। समस्याओं का हल करने के लिए उनका उपयोग किया जाता है।

प्रत्येक मिथक का सामाजिक-आधार होता है परंतु दैविक-चरित्र द्वारा उसे ऊंचाई प्रदान की जाती है। धार्मिक-अनुभव तथा सामाजिक-सम्मेलन द्वारा कलात्मकता का जन्म होता है। संस्कृति के आरंभ से ही किसी भी सामान्य विचार

को लाक्षणिक संकेत और रीति-रिवाजों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य, जीवन से मृत्यु तक जैसे लड़कियों का स्त्रीत्व प्राप्त करना, विवाह, बच्चा होना आदि सामाजिक महत्व के कार्य समझा जाता है। मनुष्य के व्यवस्थित जीवन के आरंभ के साथ-साथ उसका व्यक्तिगत जीवन सामाजिक बन गया। प्रकृति ने भी बार-बार मनुष्य के जीवन को बनाया संवारा। प्रकृति मनुष्य की प्रेरणा है। बहुत-सी प्राकृतिक वस्तुएं—पत्ते, पत्थर, लकड़ी इत्यादि मनुष्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के साधन हैं। प्राकृतिक रंगों का उपयोग केवल एक रिवाज़ है परंतु ये अभिव्यक्ति के साधन हैं। प्राकृतिक रंगों का उपयोग केवल एक रिवाज़ तो है, परंतु यह अभिव्यक्ति को पूर्णता तथा नूतन अर्थ देता है। तेय्यम के 'कटि वानर विरान' का विषय प्रेम है जिसमें सुंदर वस्त्रों व तेज लय के द्वारा बेहद आदर्शवादी भावना का ठोस रूप उभरकर आता है। नृत्य के विषय को नर्तक शरीर के घुमाव, गति, स्पष्ट उच्चारण द्वारा स्पष्ट करते हैं। नर्तक मृतक नायक अथवा देवी-देवताओं का चरित्र उभारता है—उभारते समय स्वयं उस भावना से अभिभूत हो उठता है परंतु फिर भी उसे ताल-लय पर पूर्ण-अधिकार रहता है। चाहे उसकी मनःस्थिति कैसी भी हो वह मूर्छित अवस्था में कभी नहीं होता। नर्तक को मिथक पर तथा उसकी सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास होता है। वह शास्त्र-विधि का अवलंबन लेता है। यही बात उसकी कला का महल बनाती है। यदि इस कला से विधि-विधान को हटा दिया जाए तो इसमें न कलात्मकता रहेगी न प्राण। विधि-विधान पर आधारित कला वास्तव में जीवन से जुड़ी होती है और मनुष्य की जीवंतता का प्रतीक है। जीवन को उसकी वास्तविकता में अभिव्यक्त ही नहीं किया जाता, बल्कि कल्पित सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। भारतीय कलात्मकता की धारणा में लोक-धर्मी और नाट्य-धर्मी (सज्जा वाले अभिनय का प्रतीक) और तोरित्रिकम् (तीन रूपों में अभिनय जिसमें गायन, नर्तन, वादन, सम्मिलित हैं) प्रसिद्ध हैं वादन बोल-चाल की भाषा के स्थान पर नाच-गाने की भाषा समाज के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है। कभी-कभी नृत्य द्वारा मनुष्य की शक्ति को रास्ता मिल जाता है और जीवन आमोद-प्रमोद से भर जाता है। आदि मानव ने चाहे लड़ाई हो अथवा खेल, मछली पकड़ना हो अथवा खेती—हर क्षेत्र में बहुत से नृत्य की मुद्राएं तथा गाने बनाए जो उसकी आंतरिकता का प्रतीक और उसकी जीवन-शैली से मेल खाते हैं। नृत्य और गायन मानव की आंतरिक प्रकृति है तथा मानव-जीवन के साथ-साथ ही इसका आरंभ हुआ। यह बात केरल की जातियों जैसे पलयान, पनयान, मलयान आदि के लोक-नृत्यों में अभिव्यक्त होती है। पुरानी जातियों के लोक-नृत्यों में नृत्य समूह से दूर हट जाता है। नृत्य चाहे सामूहिक हो अथवा एकल—वह मानव के हर्षातिरेक का प्रतीक है। कलात्मक-प्रेरणा का मूल कारण मनुष्य का प्रकृति की रहस्यात्मकता से डर है तथा नृत्य द्वारा वह अपने आप को पूर्णरूप से भुला देता

है। मनुष्य इस जटिल परिस्थिति से तारतम्य स्थापित कर लेता है तथा अपने अनुभव को विधि-अनुरूप प्रस्तुत करता है। कभी-कभी नर्तक में मानसिक-संतुलन नहीं रहता। कभी-कभी ऐसे दिव्य पुरुष अकेले या समूह में अलग-अलग नाम से दिखाई देते हैं। एक पैर पर साढ़े-अठारह दिव्य पुरुषों द्वारा किया गया नृत्य (अंतिम नर्तक के पास आधी तलवार होती है इसलिए उसे आधा कहते हैं) उत्तरी केरल के निलांबर में श्री शस्ता (वेट्टकोमकन, शिव और पार्वती के पुत्र जो उस समय उत्पन्न हुए जब वह जंगल में शिकार कर रहे थे) को समर्पित है। यह नर्तक किसी देवी-देवता के प्रतिनिधि बनकर भविष्यवाणियां करते हैं। नृत्य की लय उन्हें देवता से जोड़े रखती है। जब नृत्य की गति बहुत तीव्र हो जाती है तब भी यह नर्तक लय-ताल नहीं छोड़ते। जब ये लोग माथे से नारियल तोड़ते हैं, सिर पर तलवार चलाते हैं या लाल लोहे की जंजीरों से अपने को पीटते हैं तब भी लय-ताल नहीं भूलते। मालाबार के कुछ समृद्ध परिवार एरामंगलम तथा बालुशेरी के मंदिरों के देवताओं को अपनी सारी नई फसल दान कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में दिव्य पुरुष अपने दोनों हाथों से नारियल तोड़ता है। वह यह कार्य अंत तक करता रहता है जब तक कि बारह-हजार नारियल नहीं टूटते। इस प्रकार की उन्मुक्त भूतग्रस्त अवस्था में दिव्य पुरुष में बेहद मानसिक और शारीरिक शक्ति आ जाती है। आजकल कई कानूनी व्यवस्था के कारण ज़मींदारी प्रथा समाप्त हो गई है और इस प्रकार का दान देना भी संभव नहीं रहा है इसलिए भविष्यवक्ताओं के कार्य को धक्का लगा है।

तेय्यम के नर्तक को आध्यात्मिक अनुभव से गुजरते समय तथा भूतग्रस्त होते समय तीन चरण से गुजरना पड़ता है। पहला दौर रूप बदलने का है जिसके द्वारा नंर्तक का अपना व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और वह असांसारिक कल्पना का सामना कर सकता है। विचित्र किस्म का मुखौटा नर्तक को नया व्यक्तित्व दे देता है (लैटिन में परसोन का अर्थ मुखौटा है) जो सत्य नहीं है। दूसरा दौर नर्तक को मानसिक-रूप से आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचने में सहायता देता है। वह शीशा देखता है जो विशेष अर्थपूर्ण रिवाज है जिसकी उसे उस देवी-देवता में विश्वास हो जाता है जिसका रूप वह तेय्यम नृत्य में धारण करता है। अंतिम दौर में वह भूतग्रस्त हो जाता है और इसमें संगीत लय-ताल उसका साथ देते हैं। नर्तक का शरीर और चेतना उस चरित्र की हो उठती है जिसका वह रूप धारण करता है। नर्तक का आचरण अथवा हाव-भाव केवल लय-ताल से ही मेल नहीं खाते, बल्कि उसकी ध्वनियां अवास्तविक और अग्राह्य लगती है। नर्तक अपने शरीर और मस्तिष्क को अपने आंतरिक तेय्यम के लिए तैयार करता है। कठोर आत्म-संयम के समय में, जो किसी भी पूर्णकला के लिए आवश्यक है, नर्तक अपनी पसंद के देवी-देवता पर पूर्ण आस्था से ध्यान केंद्रित करता है। व्यक्ति से देवी-देवता का

रूप धारण करने की प्रतिक्रिया को वह सामने एकत्र भीड़ के साथ-साथ अनुभव करता है। दर्शकों को नाटक में विश्वास होता है। इसी प्रकार नर्तक को उस चरित्र में विश्वास होता है जिसका वह रूप-परिवर्तन करता है। दर्शक नाटक के चरित्र और अभिनेता में अंतर कर सकता है। इसी प्रकार नर्तक को भी रूप-परिवर्तन के समय मालूम होता है कि कौन-कौन है। नर्तक देवी-देवता के प्रति आस्थावान होता है जैसे दर्शक नाटक के प्रति। जब भी कोई दर्शक अपनी बुद्धि का उपयोग करता है तो उसकी भावना नर्तक भक्त से पृथक हो जाती है। आदर्श रसिक कला का आनंद उठाते समय बुद्धि का प्रयोग नहीं करता, इस प्रकार के आनंद के लिए दूसरे प्रकार की बुद्धि की आवश्यकता होती है। क्या दर्शक के आनंद और नर्तक भक्त की भक्ति को एक कहा जा सकता है ? कलात्मक दृष्टि से इन दोनों की समानता का निरीक्षण आवश्यक है। तेय्यम के नर्तक को ज्ञात होता है कि वह अभिनय कर रहा है। जब वह वेलीचपाडु (शमन) नृत्य करता है जिसे 'ईडम कुरम' भी कहते हैं तो वह अर्ध-चेतना की स्थिति में होता है। परंतु उसके मस्तिष्क का आधा भाग जो पूर्ण-चेतना की स्थिति में होता है वह जानता है कि उसका लक्ष्य क्या है। उसका व्यक्तित्व जो नृत्य और ताल में समन्वय करता है, जानता है कि स्थिति क्या है। कभी-कभी नर्तक के चेतन मन को अचेतन मन पर अधिकार नहीं रहता नर्तक को इस स्थिति से भक्तों को ही निकालना पड़ता है। इस प्रकार के अभिनय को बुरा अभिनय कहा जाता है। नाटक में अभिनेता की तथा धार्मिक रीति-रिवाज में नर्तक की एक-सी स्थिति होती है। वह पूर्ण रूप से चरित्र को जीता है और यह देवी-देवता के रूप को। अभिनेता नाटक की उस स्थिति पर विचार करता है जिसका वह अभिनय करता है और नर्तक पौराणिक कथा पर आत्म-केंद्रित होता है।

पौराणिक कथाओं को जब दर्शनीय बनाया जाता है तो वह अपने आपको आस पास के वातावरण और प्रकृति से रंग लेती हैं तथा दार्शनिकता की ऊंचाइयों पर पहुंच जाती हैं। पौराणिक कथा के कलाकार को मालूम होता है कि यह जीवन से उभर कर, आदर्श को बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करती है। इसी प्रकार रंग अथवा ध्वनि का रूप वास्तविकता से बढ़ा-चढ़ाकर होता है। लोक कला में रंग तथा सज्जा का सामान प्रकृति से लिया जाता है, जैसे केले के पत्ते, सुपारी के वृक्ष की छाल, पत्ते, मोर पंख, लाल सुपारी, केले इत्यादि। इस प्राकृतिक सामान को, जो मुखौटा तथा सिर का मुकुट आदि बनाने में उपयोग में लाया जाता है, बाद में बाग के पीछे या जंगल में फेंक दिया जाता है, जो वहां स्वयं नष्ट हो जाता है। मुखौटे में भरने के रंग तथा पांच प्रकार के वे रंग जिनके द्वारा काली माता की अल्पना की जाती है, लोक कलाकारों की कल्पना-शक्ति का प्रतीक है। लोक-कला प्रकृति के विरुद्ध दर्पण नहीं है। पटयानी (देवी के मंदिर में विधि-विधान के रूप में प्रस्तुत पारंपरिक नृत्य) मुखौटों में पिशाचू, काली कराकुरा, पिल्लातीनी, भैरवी इत्यादि को

विचित्र रूप से प्रस्तुत किया जाता है। गोल-गोल आंखें, तिकोने कान तथा अदभुत मुकुट इन चरित्रों को मनुष्य से भिन्न रूप दे देता है। पिल्लातीनी (जिसका शाब्दिक अर्थ है बच्चे को निगलने वाली) का एक नृत्य के साथ एक गाने में तात्पर्यविहीन, शब्दों जैसे 'ए ए ई यो ए ए ई यो' द्वारा आह्वान किया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जलती मशालों द्वारा आह्वान करने पर यह देवी नीले आकाश से उतरकर दर्शक के रंगे मुखौटे में अवतरित हो जाती है। इस कोलम को 'पिल्लातीनी' कहते है क्योंकि इसमें मुख्यक्रिया भयंकर भूखे जानवर की भांति बच्चे के प्रतिरूप पर झपटती है। यह नृत्य परिवार तथा बच्चों को दुरात्माओं से बचाने के लिए किया जाता है।

'कालन-कोलम' पटयानी नृत्य दूसरी तरह का नृत्य है। इस नृत्य में नर्तक के मुख पर काले रंग की अधिकता होती है। कालन मृत्यु का राजा है, कोलम समय का प्रतीक है जिसके अनुसार मनुष्य की आत्मा (मार्कण्डेय का प्रसंग) का पीछा यमधर्म द्वारा किया जाता है। इस कथा के अनुसार एक ब्राह्मण के कोई बच्चा नहीं था। ब्राह्मण ने भगवान शिव की आराधना की। भगवान शिव ने ब्राह्मण से पूछा कि उसे कैसा बच्चा चाहिए—जिसमें बुद्धि कम हो, परंतु 100 वर्ष की आयु हो अथवा एक ऐसा बच्चा जो बुद्धिमान हो परंतु अल्पायु हो। ब्राह्मण ने कहा कि उसे महान् और बुद्धिमान बच्चा चाहिए। इस प्रकार मार्कण्डेय का जन्म हुआ। मार्कण्डेय को केवल 16 वर्ष जीवित रहना था। सोलहवें वर्ष में मार्कण्डेय ने कठिन साधना की जब यम उसे लेने आए तो उसने शिव-लिंग का आलिंगन कर लिया। अब यम बिना शिव-लिंग को छूए मार्कण्डेय को ले जाने लगे तो भगवान शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोल दिया और यम जलकर राख हो गया। इस नाटक को भाव-वाचक रूप में दिखाया जाता है। भगवान शिव को चरित्र के रूप में नहीं दर्शाया जाता। यम के अंतिम-क्षण बहुत नाटकीयता से दिखाए जाते हैं। अभिनेता भीड़ से आकर लोगों का संबंध अदृश्य-लोक से करा देता है। कभी-कभी एकत्र लोग भयभीत हो उठते हैं। कभी-कभी कोलम मार्कण्डेय को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते भीड़ में से किसी बच्चे को उठा लेते हैं।

श्रद्धालु लोगों को एक क्षण के लिए चरित्र में विश्वास हो जाता है। एक ही अभिनेता ढूंढ़ने जाने वाले चरित्र का अभिनय करता है। यह जीवन और मृत्यु के अनंत नाटक का प्रतीक है। काल-काल का एक और रूप उभरकर आता है—समय का रक्षक अथवा भक्षकों का भी भक्षक। शिव धार्मिक अनुष्ठानों के लाक्षणिक नर्तक हैं और कोलाम या 'कालारी' काल के शत्रु हैं। विनाश और सृजन साथ-साथ चलते हैं। काल की हार काल द्वारा होती है और वही अंत में मार्कण्डेय को शरण देते हैं। अभिनेता पूर्ण-रूप से भूत-ग्रस्त होकर अपने को बेहद तकलीफ देता है और बेसुध हो जाता है परंतु अपनी खोज जारी रखता है। भगवान शिव

यम को फिर से जीवन देते हैं। बिना यम के संसार का क्या होगा ? अनंत-पीछा करने की यह कहानी तथा ऐसे ही बहुत से विषय 'पटयानी' कला का निर्माण करते हैं। पैराणिक नृत्य 'पटयानी' का शाब्दिक अर्थ है—साधारण लोगों का अलंकार। इस कला में समस्त ग्रामवासी भाग लेते हैं। यह कला मध्य त्रावणकोर की देवी के मंदिरों से संबंधित है। कम से कम एक दर्जन गांव के मंदिरों में यह कला विद्यमान है। ग्रामवासी इस कला को विकसित करने में पूरा सहयोग देते हैं तथा इस नृत्य के भावों को आंतरिकता से अनुभव करते हैं। वेलन अपने वाद्य-यंत्र 'परां' को उस समय बजाता है, जब सुपारी के पेड़ को उखाड़कर मंदिर में स्थापित किया जाता है। मंदिर में अट्ठाईस दिन तक उत्सव चलता है जो मीनम (मार्च-अप्रैल) के महीने में 'भारणी' के दिन समाप्त होता है। वैलीचूपाडु (दिव्य पुरुष) जो नीची जाति का होता है, भूत-ग्रस्त होकर 'परा' की लय पर नृत्य करता है तथा सुपारी के वृक्ष को उखाड़ने और लगाने की प्रक्रिया को गांव वालों की सहायता से पूरा करता है। मन्नान (धोबी) जो वृक्षों से नारियल तोड़ते हैं, सुपारी की छाल तथा मुखौटा बनाने की आवश्यक सामग्री उपलब्ध करवाते हैं। कनियान (गांव का ज्योतषी) मुखौटों में रंग भरता है। झंडा लगाने के दिन ग्राम-वासी मंदिर में रात को दस बजे मशालों के साथ एकत्र होते हैं और मंदिर की तीन बार परिक्रमा करते हैं। कू-कू-कू जैसे अर्थ-विहीन ध्वनि निकालते हैं। इस ध्वनि द्वारा वह छोटे-छोटे देवी-देवताओं का आह्वान करते हैं। छोटी शक्तियां बड़ी महान शक्ति को अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करती हैं। इसको 'चुटुपटयणि' मशालों का पटयानी कहते हैं। यह प्रक्रिया अठारह दिन तक चलती हैं। उन्नीसवें दिन सब ग्रामवासी नाव का गीत गाते हुए मंदिर पहुंचते हैं। गानों की लय चलती हुई गांव की नौका से मिलती है। मंदिर पहुंचते हैं। गानों की लय चलती हुई गांव की नौका से मिलती है। मंदिर के जलते हुए लैंप के सम्मुख ये लोग 'कापोली' नाम का नृत्य करते हैं जिसका तात्पर्य है कि वह उत्सव में सम्मलित हैं। नृत्य करते समय वह नटों के समान युद्ध-संबंधी करतब दिखाते हैं तथा उनके साथ-साथ गायन चलता रहता है। इनमें से प्रथम नृत्य 'तवटि' है जिसमें छः-सात निपुण नर्तक पटयानी की मूल-लय पर 'तप्पु' नामक गोल लकड़ी के ड्रम की ताल पर नृत्य करते हैं। 'पुलावृतम' निम्न-जाति के पुलया की कहानी है जिसमें पुलया तथा उच्चवर्ग के व्यक्ति में वाद-विवाद होता है। उच्चवर्गीय व्यक्ति पुलया से कहता कि वह मंदिर में कैसे जा सकता है, उसके मंदिर में जाने से मंदिर की पवित्रता नष्ट हो जाएगी। पुलया इस बात से नाराज होकर कहता है कि लोग मंदिर-निर्माण में मजदूर की भांति की गई उसकी भूमिका को भूल जाते हैं। गांवों के माने हुए कलाकार इस विद्या द्वारा सामाजिक बुराइयों पर प्रकाश डालते हैं। और 'पुलावृतक' के दोनों ओर प्रतीकों द्वारा इस कार्यो को पूर्ण करते हैं। इसके उपरांत 'कुतिरा' (घोड़ा) प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक 'कोलम' की भांति 'कुतिरा'

में भी गणेश पूजा की जाती है। दो, तीन नर्तक नारियल के पत्ते कमर में बांधकर तथा सामने सुपारी की छाल का घोड़े का मुखौटा बांधकर नृत्य करते हैं। इस नृत्य में स्थानीय राजाओं की लड़ाई दिखाई जाती है जिसकी तैयारी के लिए वह दूर-दूर तक घोड़े खरीदने जाते हैं।

बहुत-सी आत्माएं स्त्री-जाति की मरुता-वर्ग की है जैसे आना-मरुता, 'पंडारा-मरुता', 'कनका-मरुता' इत्यादि तथा माटन पुरुष-वर्ग की आत्मा है। मरुता वह आत्मा है जो आकस्मिक मृत्यु द्वारा भटकती रह जाती हैं और कुकृत्य करती रहती है परंतु वह अंत में काली द्वारा पराजित कर दी जाती है। मां काली इन दुरात्माओं को माला के रूप में पहनती हैं। यह मां काली का मानवता की रक्षा के लिए वरद-हस्त है। माटन (पुरुष-रूपी आत्मा) भगवान शिव से संबधित हैं और वे पाप करने वालों को सजा देने वाली आत्मा हैं। माटन कोलम में स्वयं शिव भगवान इन आत्माओं को बताते हैं कि क्या करना उचित है और क्या अनुचित। भगवान शिव के अनुसार जो लोग अपने शरीर पर राख मलते हैं, जो लोग असुरक्षित हैं तथा जो लोग अच्छे हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए। अम्मन की पूजा समस्त प्रदेश में होती है जिसपर अनार्यों की काली पूजा का स्पष्ट असर दृष्टिगोचर होता है। नागाओं (सर्प) तथा अम्मन, अय्यन के समुदायों में मंत्र और तंत्र के अतिरिक्त बहुत से धार्मिक और जादुई प्रतीक होते हैं तथा बहुत कुछ ओझागिरी होती है जिसकी उत्पत्ति संबंधी विधियों पर गहरा प्रभाव है तथा लोगों के जीवन पर भी असर है।

धार्मिक कलाओं में अभिनेता तथा दर्शक में गहरा तारतम्य होता है। दर्शक काल्पनिक-घटना में भावनात्मक रूप से अपने को पूरी तरह डुबा देता है। तार्किक रूप से बिना प्रश्न किए सब उपस्थित लोग उस अनुभव में हिस्सा लेते हैं। विधि-विधान तथा नृत्य द्वारा काल्पनिक उड़ान भरकर, कलाकार अज्ञात तक पहुंचता है। कला में विधि विधान का महत्व होता है तथा दैवी-उपदेश जैसा ही अनुभव होता है। परंतु कला अधिक रंगीन तथा अर्थपूर्ण होती है। धार्मिक विधि-विधान के बहुत से नियम होते हैं जिन्हें पूरा करना आवश्यक होता है। धार्मिक अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को साधना करनी पड़ती है जैसे तेय्यम नर्तक को अपने मस्तिष्क को तथा शरीर को ईश्वरीय आत्मा के निवास के लिए ठीक रखना पड़ता है। प्रथम दिन से ही विशेष खाना खाया जाता है, ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है तथा साधना की जाती है। मंत्रों के उच्चारण द्वारा देवता की उत्पत्ति संभव है। परंतु मंत्र ठीक कहे जाने चाहिए, सृजन की शक्ति को धीमे स्वरों (परा पश्यंती और मध्यम) में सुना जा सकता है। साधक मंत्रों को पूर्ण आस्था से उच्चारित करके उनकी शक्ति बढ़ा देता है तथा स्वयं अपने व्यक्तित्व को भूलकर मंत्र का ही रूप बन जाता है। मंत्र का अनुवाद नहीं किया जा सकता। अविश्वासी के लिए यह तात्पर्य-विहीन शब्दों का जाल है—कूट भाषा में लिखा गया तार—मंत्र विद्या सत्य है अथवा नहीं परंतु एक सुनिश्चित विचार

द्वारा निर्मित विज्ञान है। शाक्त अग्म द्वारा इनकी विवेचना की गई है। इनमें वेदांतिक दर्शन का व्यवहारिक रूप है।[2]

धार्मिक शब्द, जिनके द्वारा प्रार्थना की जाती है, नाद, बिंदु और वर्ण है तथा यह जीवन-शक्ति है। परा में से यह पश्यंती और मध्यमा में होते हुए फिर वैखरी में पहुंचते हैं जो ध्वनि का ठोसरूप है तथा इसके द्वारा देवी-देवता का निर्माण होता है। गाने तथा धार्मिक अनुभवों के समन्वय से, जो मनुष्य की आंतरिकता में होता है, वह मंत्रों के साम्राज्य से लय संगीत की दुनिया में पहुंच जाता है। यह प्रक्रिया उल्टी भी हो सकती है अर्थात मूर्त से अमूर्त की ओर। भारतीय दर्शन के अनुसार नाद के विस्फोट से रूप और रंग का सृजन होता है। मनुष्य की अपनी आंतरिकता मूर्ति को रूप देती है इसलिए यह चित्र की भांति नहीं है। मंत्र अक्षरों में छुपे हुए होते हैं जिनका कभी नाश नहीं होता। पेड़ अपने तनों और शाखाओं के साथ बीज में छुपा होता है कलात्मक सृजन-शक्ति कलाकार के अंतर्मन में होती है तथा उसके अंतर में बीज से प्रस्फुटित होकर पेड़ बनती है। इसी प्रकार पहले पूजा के साधारण तरीके हैं। आगे बढ़कर मनुष्य शिव-लिंग जैसे प्रतीकों पर ध्यान-केंद्रित करता है, और अधिक आगे बढ़ने पर केवल शून्य पर ध्यान केंद्रित किया जा सकता है। यह बात योगी के लिए भी कही जा सकती है और कलाकार के लिए भी। कला में मनुष्य की सृजनात्मकता के बहुत से स्तर हैं। बिल्कुल साकार रूप से अतिसूक्ष्म रूप तक। ग्रामीण-कला में लक्ष्य तक पहुंचने के साधन बहुत प्रारंभिक हैं। अज्ञात को बहुत ही जाने-पहचाने और सीधे साधनों से ढूंढ़ा जाता है। देवी-देवताओं के विषय में ध्यान-श्लोकम् में सीधी-स्पष्ट भाषा में लिखा हुआ है। तेय्यम की पूजा में शराब भेंट की जा सकती है। कुट्टिचातन, खंटकर्णन, तामसिक प्रवृति की देवियां हैं तथा उनको शराब भेंट दी जा सकती है। इस प्रकार के तेय्यम नृत्य करने वाले शाक्त कहलाते हैं तथा इनके लिए पूजा में शराब का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इनके धर्म में शराब लेने की अनुमति है। दूसरे धार्मिक संप्रदायों जैसे 'दैवत्तार' में शराब का निषेध है तथा जो कलाकार देवी का रूप धारण करते हैं वे भी शराब नहीं पीते।

खुले मैदान में 'टोट्टम' गानों को गला खोलकर गाया जाता है। गानों का स्पष्ट उच्चारण तथा धीरे-धीरे मंत्रोचार आंतरिक शक्ति का प्रतीक है। तेय्यम नर्तक भूत-ग्रस्त हो जाता है। लोक-गायक जब खुले गले में गाता है और उसके साथ-साथ नृत्य होता है या वह स्वयं नृत्य करता है तो वह सीधी, सरल किंतु प्रभावशाली भाषा का प्रयोग करता है तथा सीधे और विचारोत्तेजक प्रतीकों का भी प्रयोग करता है। रूपक का प्रयोग अपने वातावरण से ही किया जाता है परंतु उसमें आंतरिक

---

2. शक्ति एंड शाक्त, सर जॉन वुड्रॉफ, पृ. 452-53

शक्ति होती है। इन गानों को कलम-बद्ध नहीं किया गया है। ये गाने मौखिक परंपरा के प्रतीक हैं, इनकी अपनी विशेषता है तथा यह साहित्य की धारा से अलग हैं। कुछ विद्वानों ने तेय्यम के गानों में गलत गाने सम्मिलित कर दिए हैं परंतु उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं और यह अधिक व्याकरणबद्ध हैं। तेय्यम के गाने साहित्य की धारा से अलग हैं तथा उनमें प्राचीन प्रयोगों और लय के द्वारा रूप-परिवर्तित चरित्र की सूक्ष्म भावनाओं को दर्शाया गया है। तेय्यम संगीत में कृष्ण-नाट्य तथा कथकली के बीज विद्यमान हैं। तेय्यम संगीत प्राचीनतम साहित्यिक परंपरा का प्रतीक है। इनमें कोई छल या मिलावट नहीं है, बल्कि यह ग्राम-वासियों की सरल-भावनाओं का प्रतीक है। उच्च साहित्यकार इस विद्या को कभी भी विशेष महत्व नहीं देंगे। परंतु फिर भी ग्रामीण-नृत्य, गानों का कुछ मलयालम कवियों पर प्रभाव पड़ा है तथा उनकी कविताओं में तेय्यम और पटयानी रूपक और लय का प्रयोग है।

लोक-कला में प्रकृति और मानव जीवन से सीधा संबंध रखा गया है। लोक-कला प्रकृति से रंग और स्वर लेती है और जीवन को अर्थ देती है। धरती और लोगों से परिचय होने के कारण लोक-कला का जीवन से सीधा संबंध है तथा यह प्रकृति के रंगों द्वारा जीवन को उदात्तता देती है। जीवन और प्रकृति में संबंध स्वतः स्फूर्त्त है। कुछ लोकगीत ग्रामीण समस्याओं से संबंधित हैं। कभी कभी ग्रामीण स्त्री पुरुष किसी प्रसिद्ध गीत की धुन पर गाना रचते हैं और सामायिक समस्या पर प्रकाश डालते हैं। टोट्टम में बहुत से ऐसे गाने हैं जिनमें असामाजिक तत्वों के काले कारनामों का पर्दाफाश किया गया है जिनके द्वारा समाज स्तब्ध रह गया था। मक्कम की कहानी तेय्यम गीतों की शृखंला में प्रसिद्ध है। कुमारी मक्कम ने उनकी पत्नियों के कहने पर, अपने भाइयों से गलत संबंध स्थापित किए और अंत में उसका वध कर दिया गया। एक कहानी में दिखाया गया है कि एक कुमारी लड़की को देश-निकाला दिया गया और उसने आत्म-हत्या कर ली। एक और गीत में ज़मींदार के दुष्कर्मों पर सामाजिक प्रतिक्रिया दिखाई गई है। इस प्रकार हमें पता चलता है कि किस प्रकार कला दुष्कर्मों पर प्रहार कर सकती है और सामाजिक न्याय करने में समर्थ है। केरल की लोक-संस्कृति पुराने रिवाजों, विधि-विधानों तथा पूजा-पद्धति द्वारा विकसित है। लोगों के अुनभव जिन्हें हम द्रविड़ों और उनसे भी पहले से जानते थे, के अनुभवों ने इसे पल्लवित किया। इसके उपरांत यह संस्कृति आर्य-विजेताओं को मिली। दोनों संस्कृतियों ने बहुत कुछ दिया और लिया। इस समन्वय से जीवन को नई धारा मिली और बहुत से लाभ हुए। इस प्रक्रिया में जाति प्रथा का आरंभ हुआ। हिंदू-समाज के कार्य के अनुसार लोगों को कई वर्गों में बांटा गया था। जाति प्रथा का समाज में बहुत प्रभाव हुआ। इसकी बहुत-सी हानियां भी हुईं। बल्कि दुष्प्रभाव ही अधिक हुआ। आर्थिक असमानता और सामाजिक

शोषण का आरंभ हुआ। कला के क्षेत्र में जाति-प्रथा ने लोगों की सृजनात्मकता को शक्ति दी अथवा इसके द्वारा सांस्कृतिक ह्रास हुआ। जब तक दोनों पक्षों पर पूरी तरह विचार न किया जाए, कहना कठिन है। प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय ने एक कला में विशेषता प्राप्त की, सांप्रदायिक जीवंतता के साथ। परंतु उच्च जातियां निम्न-वर्ग को हेय दृष्टि के साथ देखती थीं। दूसरी तरफ ग्रामवासी सामाजिक असमानता का उपहास सूक्ष्म रूप में अपने सौंदर्य-बोध के अनुसार करते थे। ब्राह्मण नम्बूदरी, जिनका जातिप्रथा के अनुसार सबसे उच्च स्थान था, वैदिक धर्म का पालन करते थे जो अमूर्त में विश्वास रखते थे। इसके विपरीत प्रदेश के मूल निवासी प्रेतात्माओं की पूजा करते थे तथा पेड़ों और अपने देवताओं की भी पूजा करते थे। पहाड़ी जातियों में प्रेतात्माओं की पूजा की जाती थी जिससे ये शक्तियां उन्हें हानि न पहुंचाए। धीरे-धीरे साधारण लोग भी हिंदू धर्म के ब्रह्मा, विष्णु और महेश के सिद्धांत पर विश्वास करनें लगे तथा उन्हें लिंग पर भी विश्वास हो गया। ब्राह्मण लोग पूर्वजों की पूजा तथा सर्प की पूजा भी करने लगे। आर्य और द्रविड़ धर्म में इतना समन्वय हो गया कि दोनों को भिन्न करना कठिन हो गया। द्रविड़ लोगों की देवी (कोट्टावी) काली, निली से अधिक कोमल तथा अधिक परिष्कृत महालक्ष्मी, अन्नपूर्णा, राजेश्वरी का जन्म हुआ। बहुत-सी द्रविड़ कलाओं और धार्मिक-अनुष्ठानों का नम्बूदरी ब्राह्मण शुभारंभ करते थे और पूजा करवाते थे जिससे संस्कारों का पवित्रीकरण होता था। सर्प-पूजा के समय पल्लव गांव के ज्योतिषी, सर्प की प्रशंसा में गांव के बागों में गाना गाते थे, सर्प की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती थी। इसके साथ-साथ नम्बूदरी ब्राह्मण पवित्र-स्थान पर (एक छोटा, एक फुट का, पत्थर का कमरा) सर्प की मूर्ति प्रतिष्ठित करते थे। पुजारी मंदिर में, मिठाई तथा विशेष रूप से बना नुरुम-पालुम भी चढ़ाते थे जो चावल और हल्दी को गाय के दूध में डालकर बनाया जाता था। ऐसा विश्वास है कि पेय सर्पों को पसंद है। नम्बूदरी और पल्लव दोनों ही पूजा में भाग लेते हैं और अपनी-अपनी विधि से पूजा करते हैं।

पुराने समय में देवी के सम्मुख जानवर अथवा आदमी की बलि चढ़ाई जाती थी जिसे कुरुति कहते हैं। इसी प्रथा के प्रतीक-स्वरूप, हल्दी में नींबू मिलाकर देवी को 'रक्तम' नामक धार्मिक संस्कार के समय चढ़ाया जाता है। बौद्ध-धर्म ने अंहिसा का पाठ पढ़ाया और इस प्रकार पशु-बलि ने यह रूप ले लिया। आर्यों ने देश-वासियों की बहुत सी प्रथाओं को अपना लिया, परंतु समाज में उनका प्रभावशाली स्थान था। और जातियां उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखती थीं। उन्होंने देश को एक नया दृष्टिकोण और गहनता दी। मैक्समूलर ने आर्य-दर्शन के विषय में कहा है, ''जब आर्य-जातियां दक्षिण की तरफ बढ़ीं तथा मध्य-भारत के समृद्ध प्रदेश और जंगलों पर अपना आधिपत्य जमा लिया तब उन्होने अपनी विचार-शक्ति को विलक्षण प्रकृति की ओर मोड़ा जिसे उन्होंने आंतरिकता से अनुभव किया।''[3]

पहले आर्यों का दृष्टिकोण इतना गहन नहीं था। उन्होंने वैदिक-गानों में जीवन के ऐंद्रिक-पक्ष को उभारा है। अपनी विजय के उपरांत वह एक स्थान पर रहने लगे और अपने को पुष्ट कर लिया। अब वह सामाजिक-नियम बनाने लगे और समाज के रक्षक हो गए। उनकी बौद्धिकता ने उन्हें अन्य मानवों से ऊपर कर दिया। यद्यपि स्थानीय लोगों का धर्म वेदों पर आधारित नहीं था परंतु धीरे-धीरे इन पर आर्यों का प्रभाव पड़ने लगा तथा धीरे-धीरे आधुनिक हिंदू-धर्म का आविर्भाव हुआ। अधिकांश हिंदू आर्य-त्रिमूर्ति में विश्वास करने लगे। मंदिरों के निर्माण के साथ-साथ आर्यों का उच्च धार्मिक दर्शन समाज की नीची जातियों में भी फैलने लगा। पौराणिक कथाओं का भिन्न अर्थ हो गया। पालघाट में कुंतिपुजा नाम की एक महान नदी है जिसे कहा जाता है कि धार्मिक-ग्रंथ की कुंती के अश्रुओं से बनी है। इसी प्रकार 'पाडव-पारा' और 'श्रीरामपद्म' दो पहाड़ियां हैं जिनके नाम से लोगों का अनुमान होता है कि महाग्रंथों के चरित्र से इसके गहरे संबंध हैं। इससे उनकी भावनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। यह चरित्र इस प्रदेश में कभी आए हों अथवा नहीं तथा यह स्थल इन कहानियों का प्रांगण रहा हो अथवा नहीं, परंतु इन पौराणिक कथाओं के प्रति लोगों का दृष्टिकोण सृजनात्मक है। इन कथाओं की आत्मा को ये लोग अपनी स्मृति में सुरक्षित रखते हैं तथा उनसे जीवन की प्रेरणा लेते हैं।

---

3. ए हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ.–13

3

धर्म, जादू और समाज

केरल की संस्कृति बहुत समृद्ध और विभिन्नता लिए हुए है। वहां के लोगों का विश्वास है कि प्रकृति में दैविक व आसुरी दोनों प्रकार की शक्तियां हैं। यह विश्वास मनुष्य को प्रेरणा देता है। दैविक शक्तियों का आह्वान और आसुरी शक्तियों को दूर रखने के उपाय लोगों के धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग है। धार्मिक-अनुष्ठानों की जादुई शक्ति एक कलात्मक दर्शन बन गई है जिसका रूप जादू-टोने का है और इसमें परंपरागत समाज के अलग-अलग स्तर के लोगों का अलग-अलग योगदान है। देवी-देवताओं की कल्पना तथा उनके निवास की कल्पना का मूल आर्यों के आगमन के पहले समय में ढूंढ़ा जा सकता है। आर्यों से पहले की संस्कृति पर आर्य, जैन, बौद्ध और हिंदुओं का प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव ने केरल के सांस्कृतिक और धार्मिक विश्वासों पर गहरा असर डाला और उनमें परिवर्तन भी हुए। जैसे आर्यों से पहले केरल ने विश्वास किया था कि देवी देवताओं का निवास-स्थान कुंजों में, पेड़ों के नीचे है और इस स्थान को श्रीमूलस्थानम् कहते थे। बाद में हिंदुओं ने, जैन-बौद्ध धर्म के विहार बनाने की प्रथा के अनुरूप मंदिर बनाने आरंभ किए। अब श्रीमूलस्थानम् को श्रीकोविल कहने लगे। श्री कोविल में मूर्तियां प्रतिष्ठित की गईं। जैन-धर्मावलंबियों ने मूर्ति-पूजा ई.पू. 500 के लगभग आरंभ की। केरल की संस्कृति में बहुत-सी संस्कृतियों और धार्मिक-धाराओं का समन्वय हुआ और सबके मिलने से एक सांमजस्यपूर्ण संस्कृति का निर्माण हुआ। इस प्रकार का परिवर्तन चिल्लपतिकरम् में कन्नकी की कहानी में देखा जा सकता है। यह कहानी केरल के महाकाव्य की कहानी है और यह कहानी कोडूंगलूर के मंदिर की देवी की भी कहानी है। समस्त विश्व की भांति केरल के लोगों का विश्वास था कि प्रकृति में दैविक और दानवी दोनों ही शक्तियां विद्यमान हैं। दैवी शक्तियों का रूप स्त्रीलिंग भी था और पुलिंग भी। इन शक्तियों को अलग-अलग करने के लिए इनके विभिन्न नाम, कार्य और निवास-स्थल थे। देवियों को 'अय्यन' कहते थे तथा यह मैदानों, तटों, घाटियों की रक्षा करती थीं। परंतु देवियां पहाड़ों

और कंदराओं में भी विद्यमान थीं तथा पुरुष-देवता स्त्रियों की सीमा में भी होते थे। पहाड़ों में रहने वाले देवी-देवता को मालदिवंगल कहते थे। देवताओं के बहुत से नाम थे, जैसे—वीरभद्रन, वैट्टकोरूमकन, खंटकर्णन, माटन। देवियों के भी बहुत से नाम थे, जैसे कोटुमकालि, कुरुम्बा, चक्की, नीलि, कोटा आदि। प्राचीन काल की कुछ देवियों की घृणित विशेषताएं थीं और घिनौने नाम थे, जैसे ओट्टमुलची। (एक उरोज-वाली) या पिल्लतिनी (बच्चे-खानी)।

पेड़ों की भी पूजा की जाती थी। केवल इसलिए नहीं कि उनके द्वारा जीवन की रक्षा होती थी, बल्कि इसलिए कि पेड़ों में देवी और दानवी आत्माओं का निवास है। कुछ शक्तियां अधिक महत्वपूर्ण थीं कुछ कम। पीपल के वृक्ष में आत्माओं का निवास था। विल्व और पालवृक्षों में भी आत्माओं का निवास था। पीपल और पाल वृक्षों पर सृष्टि के आरंभ से अब तक की सब मृतात्माएं रहती हैं तथा इन वृक्षों का पैर काली मां का पैर है। बाद में पूजा मंदिरों में होने लगी। उस समय पीपल और पाल वृक्षों की पत्तियां पूजा-स्थल पर रखी जाने लगीं। मंदिरों की परिधि में पीपल के वृक्ष लगाए जाते थे तथा उनकी रक्षा की जाती थी। पेड़ के चारों ओर चौकोर चबूतरा बनाया जाता था और भक्तगण उसके चारों ओर चक्कर लगाते थे। अधिकांशतः यह पूजा शनिवार को की जाती है। इस प्रथा का वैज्ञानिक कारण भी हो सकता है। पीपल का वृक्ष चारों तरफ के वातावरण और वायु को शुद्ध करता है। श्रद्धालुओं के लिए इन पेड़ों में ब्रह्मा (सृजनकर्ता) तथा विष्णु (रक्षक) का निवास है। जीवनयात्रा में वे मनुष्य की रक्षा करते हैं। विशेष दिनों पर पेड़ों के चारों ओर दीए जलाए जाते हैं। केरल में कोई भी ऐसा मंदिर नहीं है जहां पीपल का वृक्ष (अश्वत्थ) न हों। श्रद्धालु लोग पीपल के वृक्ष को कभी नहीं काटते, क्योंकि उनका विश्वास है कि ऐसा करने से भयंकर बीमारी हो सकती है। जब ये वृक्ष सांपों के जंगलों में होते हैं तो इन्हें बिल्कुल ही नहीं काटा जाता। श्रद्धालु भक्त इन वृक्षों को इसलिए लगाते हैं कि देवताओं का आशीर्वाद मिलता रहे।

वृक्षों की पूजा के साथ-साथ सर्पों की भी पूजा की जाती थी। ऐसा विश्वास था कि पूजा करने पर सर्प बहुत हितैषी हो सकते हैं परंतु गुस्सा होने पर बहुत अहित भी कर सकते हैं। सर्पों की कुंजों में पूजा की जाती है और कुछ कुंज विशेष रूप से सर्पों के लिए ही हैं। बहुत से सर्प देवी-देवता हैं जिनकी शक्ति श्रद्धालुओं के लिए अलग-अलग है। वे पृथ्वी के भीतर संचित धन की रक्षा करते हैं। जिस पृथ्वी पर सर्प रहते हैं उसे कभी नहीं छोड़ते जब तक कि उनके संरक्षण ही उन्हें ऐसा करने पर विवश न कर दें। सर्प संपत्ति की भी रक्षा करते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति संपत्ति को हथियाता है जिसका उस पर कानूनी अधिकार नहीं है तो उसे सर्पों की अनुमति लेनी पड़ती है। इस आज्ञा के लिए ज्योतिषी बहुत से विधि-विधान करते थे। इन विधि-विधानों द्वारा सर्प उस स्थल से कहीं और चले जाते थे।

भूत-प्रेतों में से भी कुछ अच्छे होते हैं और कुछ बुरे। अच्छे भूत बीमारियों से रक्षा करते हैं और अच्छे भाग्य लाते हैं। अच्छे भूत शत्रुओं को हानि पहुंचाते हैं तथा अपने संरक्षकों को बेहद लाभ पहुंचाते हैं। ये भूत पूरी तरह अपने सरंक्षकों के हाथ में होते हैं परंतु नाराज़ होने पर ये उनके विरुद्ध भी हो जाते हैं। अपने संरक्षक के साथ जो भी समझौता होता है, यह उसके अनुरूप कार्य करते हैं। दुरात्माओं में सबसे अधिक प्रभावशाली आत्मा 'चाट्टन' है।

इन आत्माओं में से कुछ विशेष हैं भगवती, हुनमान, गणपति और सुब्रमण्यम्। ये अच्छी आत्माएं हैं परंतु विरुद्ध होने पर विद्वेषपूर्ण भी हो सकती हैं। हनुमान की पूजा पूर्ण एकाग्रता से इकतालिस दिनों तक की जाती है। पूजा के समय में हनुमान अपने भक्तों की इच्छाशक्ति की परीक्षा मति-भ्रम उत्पन्न करके लेते हैं। यदि साधक माया-जाल से निकल आता है तो उसे लाभ ही लाभ होता है, धार्मिक भी और सांसारिक भी। यदि साधक परीक्षा में पूर्ण नहीं उतरता तो शारीरिक और मानसिक रूप से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। भक्त की परीक्षा के समय दीए बुझ जाते हैं। साधना स्थल घूमने लगता है और गिरने लगता है।

जैसा पहले कहा गया है, प्राचीन लोगों के सांस्कृतिक और धार्मिक मतों का मूल उनके जीवन में निहित था। लोग मुख्यतः खेती करके और भेंड़-बकरियां पालकर जीविका अर्जित करते थे, इसलिए मौसम तथा जमीन के उपजाऊपन का उनके जीवन पर गहरा असर पड़ता है। प्रकृति सब प्रकार के फूल और पत्तों को उगाती है, परंतु प्रकृति के पीछे और महान् शक्ति भी है जो प्रकृति को उपजाने की समर्थता प्रदान करती है। यह महान शक्ति थी मां काली तथा यह उपजाऊपन का प्रतीक था। ग्रामीण संस्कृति में उपजाऊपन के बहुत से विधि-विधान हैं।

धर्म का जन्म मनुष्य के अनुभव से होता है। जादू प्राचीन-धर्म का अभिन्न अंग था। केरल के लोग धर्मों के संपर्क में आने से पहले प्रकृति से अपने धार्मिक-विश्वासों की प्रेरणा लेते थे। उन्हें प्रकृति करुणामयी भी लगती थी और हिंसक भी, व्यवस्थित भी और अव्यवस्थित भी, सरल भी, और कठिन भी। इसी कारण उनके धर्म में जादू-टोने, आत्म-बलिदान और आत्म-यंत्रणा का महत्वपूर्ण स्थान है। आर्यों के आगमन के उपरांत प्रकृति के प्रतिं दृष्टिकोण तथा धार्मिक विश्वासों में अंतर आया तथा प्रारंभिक अंधविश्वास भी बदल गए। परंतु यह परिवर्तन अधिकतर उच्च-वर्ग के लोगों में हुआ। साधारण लोगों में प्रेतात्माओं तथा जादू के प्रति आकर्षण बना रहा। जैन और बौद्ध-धर्म ने आर्यों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और धर्मों के प्रति लोगों का आकर्षण स्वतःस्फूर्त था। आर्यों के आगमन के उपरांत अंधविश्वासों का ह्रास हो रहा था, परंतु जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव से विहारों का निर्माण हुआ जो केवल पूजा-स्थल और लोगों के एकत्रित होने के स्थान ही नहीं थे, बल्कि यहां पढ़ाई-लिखाई और वैद्यक के भी कार्य किए जाते

थे। वैदिकधर्म के पुनरुत्थान से जैन और बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया तथा विहारों को हिंदू-मंदिर बना लिया गया। नए धर्म ने मनुष्य, धर्म और भगवान के प्रति नए विचार दिए। यह नवीं और दसवीं सदी की बात है। इस काल में मीमांसा और आगम का आरंभ हुआ तथा तांत्रिक-विश्वासों का जन्म हुआ। ब्राह्मण-वर्ग इन विधियों का पालन करने लगा। नई-नई धार्मिक-विचारधाराओं ने केरल के समाज में प्रवेश किया, परंतु पुरातन अंधविश्वास भी चलते रहे तथा जो यहां के धार्मिक रीति-रिवाजों और कलाओं में अभिव्यक्त होते थे, इन विधि-विधानों का पालन करते-करते लोगों में सामाजिक दूरियां बढ़ने लगीं। इसका सबसे घिनौना-रूप अस्पृश्यता है।

मां काली की पूजा समस्त हिंदू करते हैं, ब्राह्मण भी और जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी। परंतु मां काली की पूजा में अधिकतर ब्राह्मणों के अतिरिक्त और जातियां भी भाग लेती हैं। बहुत-सी जातियां जो निम्न-वर्ग की कहलाती हैं जैसे कुरुप, (विलकुरुप) गुरुकल, उन्नि, अडिंयल, पोडुवाल आदि इस पूजा से संबंधित हैं। ये जातियां किसी न किसी कला में निपुण थीं जैसे संगीत, वाद्य, अल्पना, नृत्य तथा यह अपनी-अपनी कला के द्वारा मां काली की आराधना करते थे। ये समस्त जातियां मंदिरों से संबंधित थीं।

मंत्र, तंत्र और यंत्र के नियमों द्वारा ब्राह्मण पूजा करते थे। पूजा के विधि-विधान में जादू-टोने का महत्व था। जिन यंत्रों को ब्राह्मण जादू-टोने के लिए उपयोग में लाते थे, वे तांबे, सोने या चांदी के बने होते थे। इन धातुओं में से किसी के पतले से टुकड़े पर बार-बार मंत्र पढ़ा जाता था जब उस धातु के टुकड़े में मंत्र की शक्ति उत्पन्न हो जाती थी तब इस टुकड़े को डेढ़ इंच की सोने की नली में डाल दिया जाता था। नली को बंद कर दिया जाता था। इस नली को रक्षा कहते थे और यह पहनने वाले की समस्त बुरी शक्तियों से रक्षा करती थी। मंत्र, तंत्र और यंत्र में रक्षा करने की शक्ति थी। तंत्र के द्वारा आत्मा को बुलाकर यंत्र में प्रतिष्ठित किया जाता है। मंत्र, तंत्र और यंत्र की शक्ति अधिक समय तक चलने वाली है, परंतु अमूर्त है। इसका अधिक मूर्त-रूप भी है जो चौक पर बनाए हुए चित्रों, जिन्हें कलम कहते हैं, में अभिव्यक्त होता है। परंतु 'कलम' में भी तांत्रिक चक्र का स्थान है।

काली मत के अनुसार 'कलम' का तात्पर्य है चौक पर की गई मां काली की चित्र-कला। मां काली का चित्र बनाने से पहले, तांत्रिक पद्धति के अनुसार, एक चक्र बनाया जाता है। दो रंगों का उपयोग किया जाता है, सफेद और पीला। सफेद रंग चावल से लिया जाता है और पीला हल्दी से। जिस स्थान पर मां-काली का चित्र बनाया जाता है उसके उत्तर-पूर्व में चक्र का प्रयोग किया जाता है। चक्र के मध्य में तांबे का तेल से भरा हुआ दीप जलाया जाता है, ऐसे विश्वास किया

जाता है कि दीए के स्थान पर स्वयं मां काली अवतरित होती हैं। दीया जलाने से पहले मां काली को नारियल, चावल आदि चढ़ाते हैं।

मां-काली की प्रतिमा पिसे हुए अनाज के आटे और जड़ी-बूटियों द्वारा बनाना एक विशिष्ट कला है। धूलिसिल्पाम (तरह-तरह के पिसे अनाज से बनी मूर्ति) बिल्कुल पूर्णता प्राप्त कर लेती है क्योंकि उसे बहुत परिश्रम से बनाया जाता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म विस्तार का ध्यान रखा जाता है। चौंसठ-हाथ की काली मां की प्रतिमा बनाने के लिए पंद्रह या उससे भी अधिक लोगों को साथ-साथ काम करना पड़ता है। सब लोग अलग-अलग कोणों से प्रतिमा को रचते हैं परंतु मुख्य कलाकार बीच में बैठकर पूरी कल्पना को साकार करता है। सबके सम्मलित प्रयत्न से एक सुंदर कलात्मक कृति का निर्माण होता है। यह एक ऐहिक धारणा है जिसका प्रतीकात्मक महत्व है। 'कलम' का निर्माण कई रंगों में किया जाता है। 'कलम पट्ट' का आरंभ 'कलम' के साथ-साथ होता है। कलमपट्ट वैसे गाने हैं जो निम्न-वर्ग के लोगों द्वारा गाए जाते हैं। कणियान गंधर्व की 'कलम' बनाते हैं और पुल्लवन सर्पों की। वन्नान दो तारों के वाद्य को, जिसे नंतुनि कहते हैं, काम में लाते हैं। संगीतज्ञ गानों की लय के साथ-साथ धीरे-धीरे तारों को छेड़ते हैं। कुरुप, जो कलमपट्ट गाते हैं, गाने के साथ-साथ एक वाद्य (चैंडा) बजाते हैं। 'कलम' की चित्रकारी उच्चपट्ट (दोपहर के गाने) से आरंभ होती है। संध्या तक 'कलम' समाप्त हो जाती है। गायक मंदिर प्रांगण के सामने झोपड़ी में बैठते हैं या उस घर में जहां यह कार्य संपन्न होता है। झोपड़ी को फल-पत्तों-नारियल के पत्तों, आम के पत्तों आदि से खूब सजाया जाता है। आंगन को गोबर से लीपा जाता है। झोंपड़ी के अंदर झाड़फूस की छत के नीचे लाल-छतरी लगाई जाती है। मां की प्रतिमा की रचना प्रांगण में की जाती है। देवता के अनुसार काली के चित्र के आकार को निश्चित किया जाता है। अधिकतर काली के चित्र के सोलह हाथ होते हैं और प्रत्येक हाथ में एक हथियार होता है जैसा कि ध्यान-श्लोक में वर्णित है। चित्र के चौंसठ हाथ भी हो सकते हैं (जैसे वैकोम के शिव-मंदिर के हैं) तथा छातियां पांच-पांच पारा चावल की बनी होती हैं। रंग-बिरंगे आटे से काली मां के चित्र को आभूषण पहनाए जाते हैं। वैकोम के मंदिर में कलमपट्ट एक बहुत बड़ी झोपड़ी में बैठकर गाया जाता है जो मंदिर के बहुत बड़े प्रांगण के उत्तरी भाग में स्थित है। गाने लगातार गाए जाते हैं। गानों में पहले गणपति की आराधना की जाती है जिससे कि सब बाधाएं दूर हों तथा उसके उपरांत काली मां और असुर दरीका के युद्ध का वर्णन किया जाता है जिसके अंत में देवी-मां असुर का वध कर देती हैं। पूरे गाने को टोट्टम कहते हैं जिसका तात्पर्य देवी को जाग्रत करने के लिए हो सकता है।

'कलमपट्ट' की समाप्ति पर देवी मां के चित्र को मिटा दिया जाता है पहले पैरों को मिटाया जाता है और फिर ऊपर से हिस्से को परंतु छाती को नहीं छुआ

जाता। जिस सामग्री से छातियों को चित्रित किया जाता है वह बाद में प्रसाद के रूप में भक्तों में बांट दी जाती है।

'कलम' पर वाद-विवाद समाप्त करने से पहले यह बताना आवश्यक है कि मां काली की प्रतिमाएं दो प्रकार की होती हैं— कुछ स्थिर तथा कुछ घूमने वाली। कुछ प्रतिमाओं को त्यौहारों आदि पर मंदिर के पवित्र-स्थल से निकाल कर जुलूस के रूप में ले जाया जाता है। इन्हें घूमने वाली प्रतिमाएं कह सकते हैं। मंदिर से बाहर आने पर भी इनकी पवित्रता अक्षुण्ण रहती है। 'कलम' में काली मां का चित्र एक स्थान पर स्थिर रहता है और उसका अस्तित्व केवल सूक्ष्म-काल के लिए ही होता है। जितने समय तक भी इस चित्र का अस्तित्व रहता है यह चित्र पवित्र होता है। जब चित्र को मिटा दिया जाता है तो उपयोग में लाई हुई सामग्री की पवित्रता नष्ट हो जाती है। विधान की समाप्ति तक यह कला अपनी पूर्णता पर पहुंच जाती है।

'कलमपट्ट' का संबंध कुछ पौराणिक नृत्यों से भी है। यह नर्तक भविष्यवक्ता और श्रमक नर्तकों के ही साथी हैं। इस नृत्य को ईटम-कुरुम-चविट कहते हैं। देवी-मां नर्तक के शरीर में और 'कलम' के चित्र में प्रवेश कर लेती हैं। इन दोनों रूपों में अलग-अलग प्रकार से मां के अस्तित्व को देखा जा सकता है। नर्तक के रूप में मां-काली नृत्य में प्रकट होती हैं और 'कलम' में चित्र के बहुत से रंगों और कलाकृति में। जब देवी की आत्मा नर्तक में आ जाती है तो वह बहुत से शब्दों का उच्चारण करता है और उसके हाथ-पांव भी इधर-उधर घूमते हैं। धीरे-धीरे नृत्य अपनी चरम-गति पर पहुंच जाता है और फिर समाप्त हो जाता है। देवी नर्तक के शरीर को छोड़ देती हैं और वह थककर मूर्छित हो जाता है। इसी प्रकार काली का चित्र भी समाप्त हो जाता है। नर्तक श्रद्धालुओं के घर जाता है तथा उसे चावल-नारियल आदि भेंट में मिलते हैं जो समृद्धि का प्रतीक है। काली अपने भक्तों को शाप भी दे सकती है और आशीर्वाद भी। देवी के श्राप के परिणाम स्वरूप चेचक जैसी बीमारियां होती हैं। देवी का श्राप या आशीर्वाद उसका खेल है जिसे अम्मा विलयाटम कहते हैं। चेचक के दाने समृद्धि के प्रतीक हैं। यदि काली-मां क्रोध में हो तो यह चेचक जानलेवा हो सकती है और समस्त प्रदेश में विनाश का बिगुल बजा सकती है।

इस नृत्य के अतिरिक्त एक और नृत्य भी प्रचलित है जिसे मुडिएट, कहते हैं। इस नृत्य में काली मां और असुर दरिका में युद्ध प्रदर्शित किया जाता है। नृत्य के अंत में असुर का वध कर दिया जाता है। मुडिएट का आरंभ कलमजिकल (चित्र को मिटाने की प्रक्रिया) के बाद होता है। मुडिएट का अर्थ है सिर पर ताज रखना। काली के रूप में नर्तक में काली की ही आत्मा आ जाती है। सारी रात उसके शरीर में रहती है तथा संपूर्ण युद्ध के दौरान उसके साथ रहती है। काली और असुर दोनों

के ही अपने-अपने साथ देने वाले होते हैं। काली के साथ कुली (साथी-आत्माएं) होती हैं। 'क्वेमपिडार' भी काली का साथ देने वाली आत्मा है जो संभवतः समाज में अच्छाइयों का प्रतीक है और समस्त सामाजिक-कार्यों में अच्छाई की सहायता करता है। 'दरिका' के साथी दानव हैं और वे काली के विरुद्ध युद्ध में असुर की सहायता करते हैं। नृत्य में अभिनय अधिक होता है। कोई विशेष स्थान नृत्य के लिए निर्धारित नहीं होता। युद्ध मंदिर के चारों ओर के प्रांगण में होता है। काली के मुख पर चेचक के दाने होते हैं जो चावल को पीसकर बनाए जाते हैं। नर्तक-काली के रूप में और कलम में चित्रित काली के रूप में समानता होती हैं। लोक नृत्यों, लोक-नाटकों तथा प्रांगण में चित्रित काली, गंधर्वन, अय्यप्पन, वेत्ताक्कोरुमकन के चरित्रों से कृष्ण-नाट्यों और कथाकली के चरित्रों का विकास हुआ और मुख की साज-सज्जा व वस्त्र-सज्जा को भी प्रेरणा मिली।

अब हम कलमजिकल (कलम को मिटाने की प्रथा) पर वापस आते हैं। हमने देखा कि प्रांगण में बने हुए काली के चित्र के केवल छातियों को छोड़कर सारे भागों को मिटा दिया जाता है। मां के स्तन जीवन के दुग्ध तथा जीवन की अनंतता के प्रतीक हैं। यदि हम इस प्रथा के दार्शनिक रूप को कम महत्व दें तो इसका सांसारिक लाभ भी है। जिस चावल से मां काली के स्तनों का निर्माण होता है, वह पुजारियों को मिल जाता है और वह लाभान्वित होते हैं।

उर्वरकता से संबंधित रीति-रिवाजों का लोगों के धार्मिक-विश्वासों पर जादू जैसा प्रभाव है। सामाजिक जीवन को स्वस्थ रखने के लिए यह कोडमुरि की ग्रामीण-कला में प्रतिबिंबित होते हैं। इस प्रथा के अनुसार कोडमुरि (गोदावरी) गाय, ग्राम की समृद्धि का प्रतीक है। इस प्रथा के अनुसार एक युवक को कोडमुरी बनाया जाता है। गाय का लकड़ी का मुखौटा बना कर लड़के की कमर पर टांग दिया जाता है। बहुत सारे विदूषक हरे रंग के खोल पर बने हुए मुखौटे पहनकर साथ चलते हैं और गायकों द्वारा गाए हुए गाने की धुनों पर नृत्य करते हैं। वे तात्कालिक सामाजिक विषयों पर हास परिहास भी करते रहते हैं। ये लोग गांव में घर-घर जाते है और समृद्धि की प्रतीक, गाय के नाम पर अनाज आदि भेंट में लेते हैं। यह गाना इस विषय पर गाया जाता है जो इस प्रथा के सौंदर्य को पूर्णरूप से चित्रित करता है।

"जहां-जहां कोडमुरी के पग पड़ते है वहीं धन-धान्य की बहुतायत होती है।" गाने के अनुसार धन-धान्य की देवी अन्नपूर्णा, आर्यों के देश केरल आई। वे अपने साथियों के साथ जहाज में बैठकर 'चेरुकुन्नु'[1] पहुंची जहां उनका पवित्रीकरण किया गया तथा देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। इस गाने में तरह-तरह के

1. यह नृत्य केरल के उत्तरी जिलों में प्रचलित है।

बीजों को केरल लाने के भी संकेत हैं।

केरल के उत्तरी-भाग में 'पुरक्कलि' मंदिर का उत्सव होता है। मीनम के मलयालम महीने में भागवती-मंदिरों में यह उत्सव नौ दिनों तक मनाया जाता है। इस उत्सव में तिरुवतिरा की भांति, जो दक्षिण में स्त्रियों का पर्व है, काम, प्रेम के देवता के पुनर्जन्म पर उल्लास मनाया जाता है जिससे मन में प्रेम की भावना प्रदीप्त होती है जिसका भगवान शिव के तीसरे नेत्र द्वारा संहार कर देने के बाद ह्रास हो गया था। पुरक्कलि में नृत्य, गायन, सामरिक कला, साहित्य-कविता और दर्शन का सम्मिश्रण होता है। इसके एक भाग को 'अडुम-पुलम' कहते हैं। इसमें चित्रित किया गया है कि शिव व पार्वती पल्लन व पल्लत्ति के रूप में इंद्र के पास गए जो धार्मिक-देवता हैं तथा उनसे पृथ्वी पर खेती हेतु बीजों के लिए प्रार्थना की। इन्द्र ने अपनी समस्त महानता के साथ पृथ्वी पर अधिक उपज के लिए वर्षा की। इससे पता चलता है कि किस प्रकार उर्वरता के प्रतीकों का उपयोग किया गया।

ग्रामीण-संस्कृति के अनुसार सांप बेहद परोपकारी दैविक आत्माएं हैं। केरल में एक नम्बूदरी परिवार का सर्प-देवी-देवताओं पर अधिकार है। इस प्रकार के देवी-देवता भयंकर भी सिद्ध हो सकते हैं। यदि उनकी देखभाल उनके रक्षकों द्वारा ठीक से न की जाए तो वे क्रोधित हो सकते हैं। प्रदूषण के कारण, क्रोधित होने पर वे अपने रक्षकों तथा उनके संबंधियों को भंयकर मानसिक एवं शारीरिक सजा देते हैं। सर्पो को प्रसन्न रखने के लिए कुछ रीति-रिवाज निभाने पड़ते हैं। यदि प्रदूषण से उनकी देखभाल ठीक से न की जाए तो सर्प अपना क्रोध और लोगों पर भी प्रकट कर सकते हैं। ऐसे समय में, लोग सर्प-देवता के क्रोध को शांत करने के लिए, नम्बूदरी परिवार के पास जाते हैं जिसका सर्पों के संसार पर अधिकार है।

कभी-कभी यदि किसी परिवार को अपनी वाटिका से सर्प-देवता को दूर करना होता है तो देवता की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। ऐसा संभव हो सकता है कि कोई परिवार अपनी वृक्ष-वाटिका को किसी कारणवश साफ करना चाहें। वह अनायास ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि वृक्ष-वाटिका का प्रत्येक पेड़ व सर्प पवित्र है। उसे ऐसे व्यक्ति के पास जाना पड़ेगा जो सर्प-संबंधी कठिनाइयों को सुलझा सके। सर्पो का रक्षक परिवार सर्पों से प्रार्थना करता है कि वे उसके संरक्षण में आ जाए। सर्पो को रहने के लिए और किसी स्थान की व्यवस्था करनी पड़ती है और इस संबंध में कुछ पवित्र रीति-रिवाज निभाने पड़ते हैं।

'पांपुम्मेक्काव' का अर्थ है (सर्पो की सबसे बड़ी वृक्ष-वाटिका) तथा यही नाम केरल के उस नम्बूदरी-परिवार का है जिसका सर्प देवी-देवताओं पर अधिकार है। इसी प्रकार मण्णारशाला भी प्रसिद्ध है जो दूसरा नम्बूदरी परिवार है जिसका सर्पो की जनसंख्या पर प्रभाव है, मण्णारशाला का तात्पर्य है वह स्थान जो शीतल हो

बलि तेय्यम : एक प्रकार का तेय्यम जिसका मूल मालाबार क्षेत्र में अनुष्ठान के रूप में है।

कोलमथुल्लल : केरल के विविध भागों में होने वाला अनुष्ठान
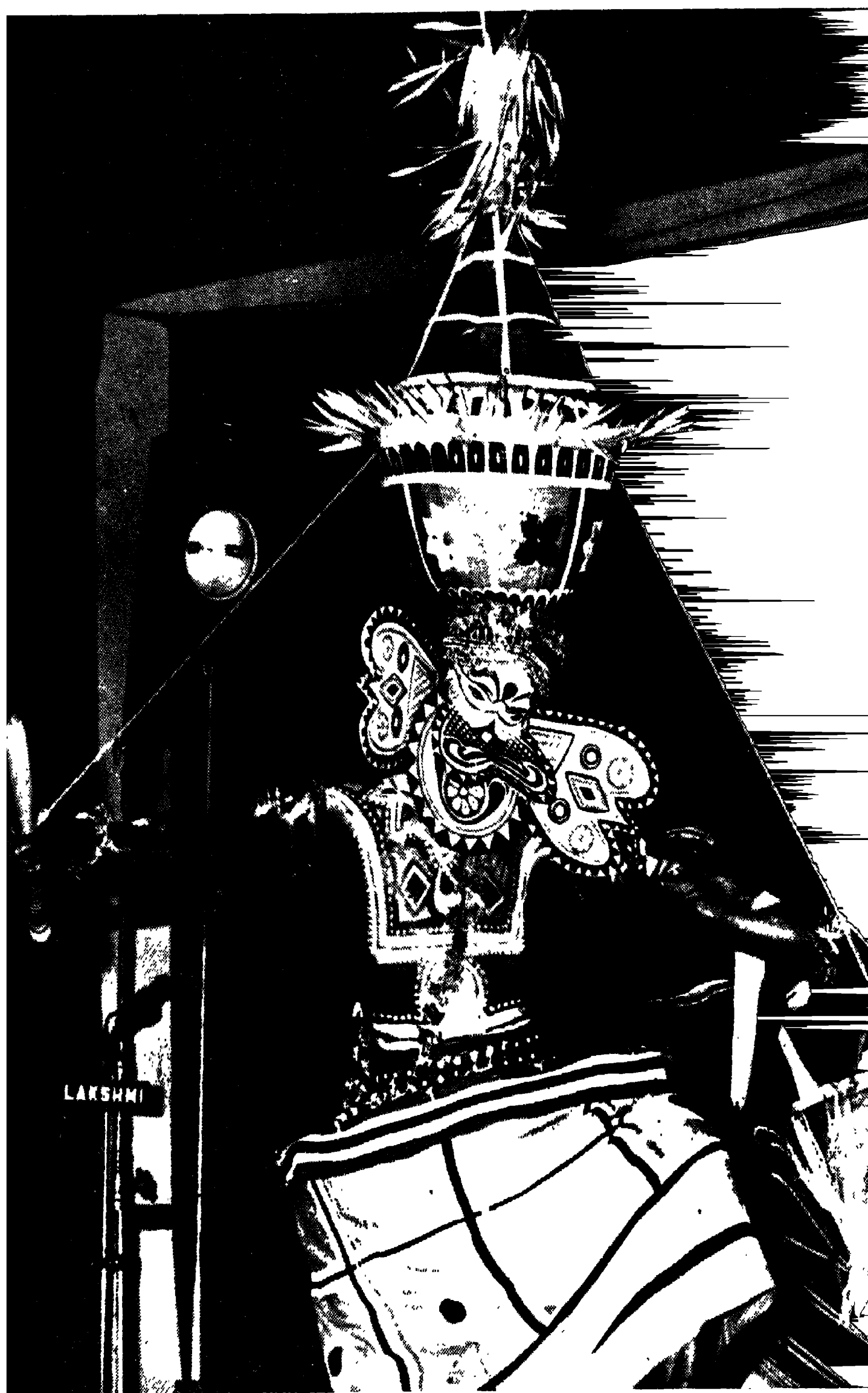
तेय्यम : मालाबार क्षेत्र के कई स्थानीय देवी अनुष्ठान
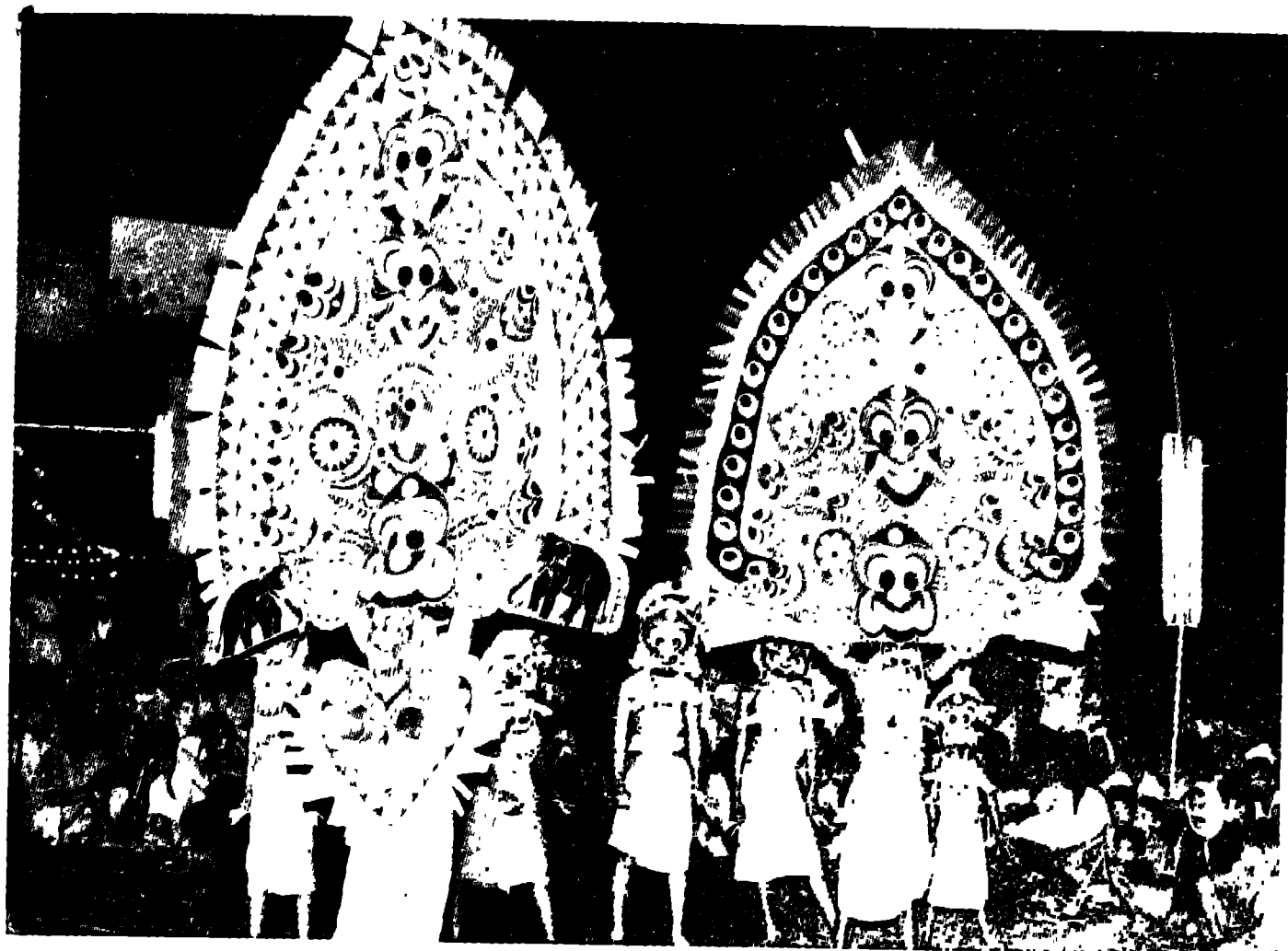
'कनियार कली' नामक लोककला प्रस्तुत करने वाली मंडली (पालक्काड)

कोलकली : छड़ियों और कदमों की ताल और लय पर गाया जाने वाला लोक संगीत

परिचामुट्टु कली : तलवारों और ढालों के साथ प्रदर्शित युद्ध रूप कलाओं की प्रस्तुति

ओट्टम धुल्लल : मान्यता है कि मलयालम में एक श्रेष्ठ कवि कुंचन नांबियार द्वारा इस लोकप्रिय कला का प्रारंभ हुआ।

शिथांगन थुल्लल : अभिनय कला 'थुल्लल' का एक उपभेद

कलमेजुथु : काली देवी के आवाहन का अनुष्ठान

पुलुवन पट्टु : परिवार के सदस्यों से प्रेत शक्ति के प्रभावों को दूर करने हेतु अनुष्ठान

चाकियार कुट्टु : एक अभिनय कला जिसका मूल केरल के मंदिरों में है।

गया है। इस स्थान का संबंध महाभारत की खांडव वन की कहानी से है। खांडवारण्य में आग लग जाने से सर्पों का विनाश हो गया। जो सर्प अग्नि से बाहर निकल आए, उन्हें शीतल-स्थान पर रहने के लिए जगह मिली, जिस पर अग्नि का प्रभाव नहीं था और जो खांडव जंगल के बीच में ही थी। आगे की कथाओं के 'मण्णारशाला' सर्पों का शरण-स्थल बन गया तथा इस स्थान की देख-रेख का भार नम्बूदरी परिवार पर है। इस परिवार को बाद में 'मण्णारशाला' कहने लगे।

'मण्णारशाला' परिवार की कुछ विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। यहां इस परिवार की मुख्य स्त्री सर्प-देवताओं की पुजारिन हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि छोटे-छोटे सर्प पुजारिन की गोद में खेलते थे। किंबदंतियों के अनुसार इस परिवार की प्रथम पुजारिन ने पांच सिर के सर्प को जन्म दिया जो पारिवारिक घर के अंदर के हिस्से में लुप्त हो गया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह सर्प अब भी घर के अंदर के हिस्से में रहता है तथा परिवार की ओर मंदिर में आने वाले श्रद्धालुओं की रक्षा करता है। वर्तमान पुजारिन का भी विश्वास है कि सर्प-देवँता उनका रक्षक है तथा उनका सहायक है। 'मण्णारशाला' में सर्पों को नैवेद्य चढ़ाने के लिए धातु के बर्तन का प्रयोग किया जाता है। पिसे हुए चावल, हल्दी आदि को गाय के दूध में मिलाकर सर्पों के लिए नैवैद्य तैयार किया जाता है। उरुलि अर्थात मिश्रित धातु के बर्तन को मंदिर में दान देना अच्छा माना जाता है। जिन स्त्रियों की संतानें नहीं होतीं उनके लिए यह दान विशेष उपयोगी है, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें संतान हो सकती है, 'उरुलिकामजाथू' का अर्थ है बर्तन को मंदिर के पवित्र स्थान पर ऊपर-नीचे रखना। मंदिर में कोढ़ में कोढ़ और अन्य चर्म रोगों जैसे विशेष कारणों पर विशेष चढ़ावा लिया जाता है । पूरे वर्ष यहां पर कोढ़ के रोगियों को देखा जा सकता है। सर्प-देवता को चढ़ाने के उपरांत इन्हें हल्दी का लेप प्रसाद-रूप में दिया जाता है जो ये सारे शरीर पर लगाते हैं।

पांपिनतुल्लल (सर्प-नृत्य) की एक प्रथा है जो सर्प-देवता को प्रसन्न एवं संतुष्ट करने के लिए की जाती है। यह उत्सव कन्नि, तुलाम, कुंभन और मेटम नामक महीनों में मनाया जाता है जो लगभग उसी समय अर्थात सितंबर-अक्टूबर, अक्टूबर-नवंबर, फरवरी-मार्च और अप्रैल-मई पड़ते हैं। 'एलेशा तारा' जो सर्पों का जन्म-दिन है, सर्प-नृत्य के लिए पवित्र माना जाता है। बरसात के मौसम को इस पर्व के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता, क्योंकि इन दिनों सर्प जमीन के अंदर बिलों से बाहर नहीं निकलते। बरसात की गड़गड़ाहट से सापों के अंडे भी टूट सकते हैं।

'पांपिनतुल्लल' को अस्थायी स्थान पर संपादित किया जाता है जिसका निर्माण सर्पों की वृक्ष-वाटिका के निकट अथवा घर के आंगन के निकट किया जाता हैं। एक फूस की झोपड़ी खड़ी की जाती है। इसके फर्श को गाय के गोबर से लीपा जाता है तथा उस विभिन्न प्रकार के फलों की विस्तृत रचना की जाती है,

सर्प-देवताओं को विभिन्न रंगों से चित्रित किया जाता है। कलम पर पीतल के दीपक जलाए जाते हैं तथा उनके सम्मुख भेंट-स्वरूप चावल और गोले रखे जाते हैं। 'पांपिनतुल्लल' पांचों प्रकार के सर्प-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है—नागराज (सर्पों का राजा), नागान्ती (सर्पों की रानी), करींगम (काला सर्प), परांगम (उड़ने वाला सर्प) तथा अंचिलमनींगम (पांच सिर का मणि रखने वाला सर्प)। पापिनतुल्लल पांच दिन तक विभिन्न प्रकार से चलता है। समस्त ग्राम उत्सव में सम्मलित होता है। मन्नन फूल तोड़ कर लाते हैं तब वेलूतेडन (धोबी) धुले हुए कपड़े लाते हैं। पुल्लवन मुख्य पुजारी होता है जो समस्त उत्सव को संचालित करता है। स्त्री एवं पुरुषों के बजाए हुए वाद्यों पर सर्पों के विषय में गाने गाते है। उत्सव का आरंभ प्रातःकाल गणपति के भजनों से होता है जो उस स्थान पर गाए जाते हैं जहां कलम की रचना की जाती है। दोपहर तक सर्पों को आंगन पर चित्रित कर दिया जाता है, कलम के सम्मुख गाने गाए जाते हैं जिसके सम्मुख पिनियाल, उस परिवार के लोग जिन पर धार्मिक-पूजा का सबसे अधिक प्रभाव होता है, बैठते हैं। 'पिनयाल' एक से अधिक भी हो सकते हैं जिन्हें 'काप्पुमकन्यवुम' (एक लड़का एक लड़की कहते हैं)कहा जाता है, सर्पों के आशीर्वाद स्वरूप ये लोग सुपारी के फूल को लेकर बैठते हैं। ये लोग सम्मोहित हो जाते हैं और फूल को हाथ में लेकर नृत्य करते हैं। उनके साथ-साथ पल्लवन गाने गाते हैं जो धीरे-धीरे अपनी चरम-गति पर पहुंच जाता है 'पिनयाल' कलम पर पहुंचकर नागों के चित्र को फूल से छूते हैं। यदि 'पिनयाल' सम्मोहित नहीं होते अथवा क्रोध में कलम के चित्रों को बिगाड़ देते हैं, तो श्रद्धालु समझते हैं कि पूजा निष्फल रही। तब समस्त विधि-विधान को दुबारा किया जाता है। केरल के लोगों पर सदा से सर्पों का पूर्ण प्रभाव रहा है। यह बात वहां के रीति-रिवाजों में प्रतिबिंबित होती है। हिंदू-धर्म के ऊंचे सिद्धांत किसी भी प्रकार के अंधविश्वास अथवा जादू-टोने में विश्वास नहीं रखते परंतु मलयाली लोग इस प्रकार के विश्वासों को दार्शनिक-रूप देते हैं। ये लोग सर्प को अंतर-शक्ति का प्रतीक मानते हैं जो उसके भीतर छिपी हुई है तथा ढूंढने पर उसे मुक्त कर सकती है। उसकी आंतरिक शक्ति को जगा सकती है। सर्प का स्थान रीढ़ की हड्डी के नीचे है जिसे मूलधार कहते हैं। यह कुंडल के रूप में स्थित होती है तथा इसे कुंडलिनी शक्ति कहते हैं। यह जीवन-शक्ति है जो प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है तथा मस्तिष्क को केंद्रित करने से ये शक्तियां ऊपर की ओर जा सकती हैं। शरीर और मस्तिष्क को ठीक रख सकती हैं। पूर्ण-श्रद्धालु भक्त की सर्प-शक्ति भक्ति धीरे-धीरे उसे शारीरिक जीवन के उच्चतम स्तर पर पहुंचा देती है जिसे सहस्त्र पद्म अथवा हजार पंखुड़ियों का कमल कहते हैं। यह योगी की साधना का उच्चतम शिखर है। केरल के कलारी-विधान में कुंडलि अथवा सर्प-शक्ति जाग्रत करने पर विशेष बल दिया जाता है। सब प्रकार की शारीरिक क्रियाएं रीढ़ की हड्डी के निचले

भाग को शक्तिशाली बनाती हैं। यह दिलचस्प बात है कि कला के देवी-देवताओं में सर्प-देवी का भी स्थान है। दूसरे देवी-देवताओं के नाम हैं शिव, शक्ति, कालभैरव, भैरवि, गणपति, गुरु, वेत्ताक्कोरुमाकन, भद्रकाली तथा अन्तिममहाकालन्। कला वैधानिक रूप से कुंडलिनी (सर्प-शक्ति) के दर्शन की व्याख्या करते हैं। कला मनुष्य की शारीरिक-शक्ति में विश्वास रखते हैं। उनके विचार से स्वस्थ शरीर में ही अच्छे मस्तिष्क का निवास हो सकता है। श्रीशंकर ने अपनी पुस्तक 'सौंदर्य-लहरी' में कुंडलिनी के विषय में विस्तार से लिखा है। एक हजार पंखुड़ी के कमल में शक्ति शाक्त से दिव्य मिलन का अनुभव करती है। नारायण गुरु ने अपने विख्यात कुंडलिनी पाट्टु (सर्प-शक्ति का गीत) में लिखा है—

ओ सर्प, नृत्य करो,
अपने लिए स्थान ढूंढो, सुख की चरम स्थिति में नृत्य करो,
करोड़ों मंत्र ओम से ध्वनित होते हैं
तुम जानते हो, हमारा मूल क्या है,
नृत्य करो, नृत्य करो...
नमः शिवाय मंत्र का मूल
जो ध्वनि से उच्चरित होता है
नृत्य जो आदि-रूप है
जिसके तीसरे नेत्र ने काम का संहार किया
और नृत्य और नृत्य...ओ सर्प।[1]

दैविक सर्पों के अतिरिक्त केरल में बहुत प्रकार के सर्प हैं— बहुत जहरीले सर्प भी हैं तथा हानि न पहुंचाने वाले सर्प भी हैं, पानी के सांप भी हैं, भूमि के सर्प भी हैं, वृक्षों के सर्प हैं, दो सिर के सर्प हैं, लंबे, छोटे, पतले अथवा रंग-बिरंगे सर्प भी हैं। मनुष्य केवल दैविक और अच्छे सर्पों की पूजा करते हैं जो श्रद्धालुओं और सच्चे लोगों की रक्षा करते हैं। वह बुरे और जहरीले सर्पों को अलग रखते हैं। सांप के काटे के देसी इलाज कभी-कभी आश्चर्य-जनक रूप से लाभप्रद होते हैं। नीर्कोलि नामक हानि-रहित सर्प के विषय में कहा जाता है कि वह केवल आपको खाना खाने में विलंब करा सकता है अर्थात यदि आपको निर्कोलि ने काटा है तो केवल एक समय खाना न खाएं और इसके अतिरिक्त किसी बात की आवश्यकता नहीं है। नीर्कोलि कटिचाल अत्ताजम मुतंगम। परंतु कुछ जहरीले सांपों के काटने से खून निकल आता है। कभी-कभी कोई इलाज संभव नहीं हो पाता। सांप के काटे के विषय में बहुत सी कहानियां प्रचलित हैं जो अद्भुत उपचार का उल्लेख करती हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्प ने जिस स्थान पर काटा

1. लेखक द्वारा मलयालम से अंग्रेजी में अनूदित

है उसी स्थान पर यदि वह दुबारा काट ले तो जहर उतर जाता है और रोगी भला चंगा हो जाता है। इस पद्धति द्वारा उपचार करने वाले लोग साधारण वैद्य नहीं होते। इस प्रकार के इलाज के विषय में ग्रंथों में लिखा हुआ है। यह जहर मारने का विज्ञान है तथा इनमें बहुत से मंत्र, तंत्र और दवाइयों का उल्लेख है। मंत्र और तंत्र का उपयोग तभी किया जाता है जब दवाई का कोई असर नहीं होता। इन पुस्तकों में 'दूत-लक्षणम्' अर्थात् समाचार लाने वाले व्यक्ति के द्वारा दिए गए ब्यौरे को भी महत्व दिया गया है। सर्प चिकित्सक कभी भी रोगी के पास स्वयं नहीं जाता। कोई भी व्यक्ति रोगी की हालत के विषय में समाचार लेकर चिकित्सक के पास आता है। शास्त्रों के ज्ञान तथा अपनी बुद्धि के द्वारा विष वैद्य जान लेता है कि रोगी की मृत्यु हो गई अथवा वह जीवित है, वह रोगी के विषय में सूचना लाने वाले व्यक्ति की हाव-भाव तथा बातें सुनकर और यह जानकर कि उस दिन कौन-सा दिन है, सारी स्थिति समझ लेता है। सब कुछ सुन-समझकर वह जान लेता है कि किस प्रकार के सर्प ने रोगी को काटा है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य की भांति सर्पों की भी चार जातियां है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। उच्च जाति के सर्प कभी नहीं काटते। वह तभी काटते हैं जब नियति दंश देने के लिए उन्हें बाध्य कर देती है। ऐसी परिस्थिति में रोगी का ठीक होना लगभग असंभव है। यदि विष-वैद्य अपनी पूर्ण-शक्ति से प्रयास करता है तो रोगी ठीक हो जाता है और सर्प की मृत्यु हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में विष-वैद्य को भी निर्धनता और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। विष-वैद्यों का विश्वास है कि रोगी को ठीक करना पवित्र कार्य है और इसके लिए धन-प्राप्ति नहीं करनी चाहिए तथा यह कार्य केवल मानवता के लाभ के लिए करना चाहिए। इन कहानियों का सत्य कुछ भी हो परंतु अब विष-वैद्यों की संख्या, बहुत-सी कठिनाइयों के कारण कम होती जा रही है।

सर्प की पौराणिक व काल्पनिक कथाओं के साथ बहुत से अंधविश्वास जुड़े हुए हैं। ऐसा विश्वास प्रचलित है कि पृथ्वी के गर्भ में बहुत से बहुमूल्य माणिक छुपे हुए हैं जिनमें से एक माणिक्यवकल्लु है। यह कीमती पत्थर अनंत काल से सर्पों द्वारा उड़ाई हुई हवा से निर्मित है। विश्वास के अनुसार तीन प्रकार के बहुमूल्य पत्थर हैं—धान-मणि (नेन्माणिक्यम एक विशेष प्रकार का बहुमूल्य अनाज धान में छुपा है), बम्हनी मणि (इसे बम्हनी अपने मुंह में छुपा कर रखती है और इसे अरणमाणिक्यम कहते हैं) तथा सर्प-मणि (नागमाणिक्यम)। ये जंतु प्रकृति से भयंकर होते हुए भी पृथ्वी से जुड़े हैं और रक्षक भी हैं। सर्पमणि को लेकर उड़ जाते हैं तथा उसे कहीं भी गिरा देते हैं जिन्हें मणि मिल जाती है वह उनका सौभाग्य है जो लोग 'नेन्माणिक्यम' को प्राप्त कर लेते हैं, जो बहुमूल्य मणि है और धान के बराबर होती है, वह उसके आभूषण नहीं बनाते बल्कि पवित्र वस्तु और सौभाग्य

का चिह्न मानकर जीवन भर घर में सुरक्षित रखते हैं।

प्रारंभिक द्रविड़ कला जादू टोने को बीमारियां ठीक करने के लिए उपयोग में लाती थी। वेलन, ग्राम के राक्षस-नर्तक का विश्वास था कि वह लोगों के बहुत से दुःख-दर्द दूर कर सकता है। वह अपने जादू-टोने का आरंभ ड्रम को बजाकर (जिसे परा कहते हैं) करता है तथा वह भली-आत्माओं से प्रार्थना करता है कि वह शत्रु-आत्माओं से लड़ने में समर्थ हो सकें। शत्रु-आत्माएं 'अभिचारम्' का प्रतीक हैं अर्थात् उन बुरे कार्यों का जिन्हें 'कुटपत्रम' कहते हैं। वेलन उन्मत्त अवस्था में दुरात्माओं के इन कार्यों का पता करता है। हिरन के सींग द्वारा बने हुए भोंपू से वह दैविक शक्तियों से संबंध स्थापित करता है। वह भोंपू को अपने पास रखकर शत्रु के बुरे कार्यों की व्याख्या करता है तथा यह जानने में समर्थ हो जाता है कि घर में बुराइयों के प्रतीक कहां छुपे हैं। पृथ्वी को खोदने पर धातु के बनी हुई। चादर पर चौकोर व तरह-तरह के और आकार बने हुए मिलते हैं। जादू-टोने में समस्त जाति का विश्वास अंबलपूजा के कृष्ण-मंदिर में देखा जा सकता है। यहां सब लोग सम्मिलित-रूप से, हर बारह वर्ष के उपरांत, पल्लीपाना उत्सव मनाते हैं। इस उत्सव की विशेषता बलि है। किसी व्यक्ति को प्रथम दिन ही बलि के लिए चुन लिया जाता है, उसे पोरनाडि कहते हैं। बलि अंतिम दिन चढ़ाई जाती है, उस समय तक पोरनाडि सामाजिक नियमों से पूर्ण-रूप से स्वतंत्र है। वह किसी भी समय किसी के भी घर जा सकता है और कुछ भी बोल सकता है। समस्त जाति को उनके पापों से मुक्ति दिलाने के लिए उस व्यक्ति को बलि चढ़ाया जाता है। पुराने समय में मनुष्य की बलि उत्सव का चरम उत्कर्ष था। अब 'पोरनाडि' अथवा मनुष्य के स्थान पर मुर्गे की बलि दी जाती है। तीस साल पहले, अंबलपूजा में विजयबलि नामक उत्सव उत्साहपूर्वक मनाया गया। यह उत्सव 144 वर्ष के उपरांत मनाया जाता है अर्थात् 12 पाल्लीपनस के उपरांत। इस उत्सव का मूल द्रविड़ संस्कृति में है। बहुत सारे जादू-टोने में विश्वास करने वाले लोग इस उत्सव में सम्मिलित होते हैं।

वेलन बहुत से भयंकर जादू-टोने भी करते थे जैसे श्मशान में पाट्टबली नामक बलि। कुछ जादू-टोने मंदिरों में और कुछ अमीर लोगों के घरों में भी किए जाते थे। ये जादू-टोने पापात्माओं के प्रभाव से समस्त जाति अथवा परिवार के लोगों को मुक्त करने के लिए किए जाते थे। मंदिर के बाहर, दक्षिणी भाग में एक गड्ढा खोदा जाता था जिसमें एक व्यक्ति की बलि दी जाती थी। गड्ढा लकड़ी के पट्टों पर किए जाते थे जैसे वह कोई मृतात्मा हो। रात्रि के समय, समस्त संस्कारों के पूर्ण होने के बाद, वह व्यक्ति लकड़ी के पट्टे हटाकर, उत्तेजित अवस्था में, गड्ढे से निकल भागता था। प्रातः काल वह फिर उसी उत्तेजित अवस्था में लौटकर आता था और उसके चारों ओर कांटों भरी लताएं सारे शरीर से लिपटी रहती थी जिनसे

घाव बन जाते थे और रक्त बहता रहता था। व्यक्ति द्वारा अपने को दी गई इस प्रकार की शारीरिक यंत्रणा स्वयं उसे और समस्त जाति को पवित्र करती थी। यह जादू टोने का अभिन्न अंग था।

पुराने ग्रंथों के अनुसार परशुराम ने नम्बूदरी परिवारों को जादू-टोने का काम सौंपा। केरलोलपट्टि की संख्या बारह थी, इनमें से छः दुष्टात्माओं को संतुष्ट करने के लिए थे तथा छः दैविक आत्माओं की आराधना के लिए। इन परंपरागत वंशों में से तीन अब भी जीवित हैं—कल्लूर, काटुमाटन तथा अकवूर। ब्राह्मण, परया, पुलया, नायर जैसी अन्य जातियों के लोग भी इस कला का उपयोग करते हैं। ये लोग इस प्रकार का कार्य कब से करने लगे यह ज्ञात नहीं है। ब्राह्मण अधिकतर निम्न कोटि के जादू-टोने का प्रयोग नहीं करते। वे केवल हल्की तांत्रिक विद्याओं का प्रयोग करते हैं। कुछ नम्बूदरी परिवारों का दुष्टात्माओं पर अधिकार माना जाता था तथा यह परिवार काले जादू का प्रयोग करते थे। उच्च नम्बूदरी परिवार इन लोगों से विवाह आदि का संबंध स्थापित नहीं करते थे, क्योंकि वे सामाजिक-रूप से, दुरात्माओं के निकट होने के कारण, हीन समझे जाते थे। इन आत्माओं को 'चान्तन' कहते हैं। ये आत्माएं जादूगर की पूरी सेवा करती हैं, परंतु इन आत्माओं के विचारानुसार समस्त विधि-विधानों को पूर्ण-रूप से क्रियान्वित किया जाना चाहिए अन्यथा जादूगर को बेहद शारीरिक, आर्थिक व मानसिक हानि हो सकती है। जादू-टोने अथवा देशी दवाइयों पर पुस्तकें ताड़ के पत्तों पर लिखी हुई हैं। इनके विषय में अधिक जानकारी को गुप्त रखा जाता है। यह जानकारी केवल उसी परिवार के सदस्यों को, जैसे पिता से पुत्र को, विरासत में मिलती है। परंपरा के अनुसार इस विषय पर गोपनीयता अति आवश्यक है अन्यथा औषधियों का असर जाता रहता है और वह बहुत अधिक साधारण लगने लगती हैं। कुछ परिवारों के पास पीलिया छोटी-चेचक अथवा मकड़ी के जहर आदि के भी इलाज हैं। इनके विषय का ज्ञान परिवार की मुखिया स्त्री अथवा पुरुष को होता है। दवाइयां साधारण पेड़, ज़ड़ी-बूटियों, पत्तों और राख आदि से बनाई जाती हैं परंतु औषधि को मंत्र रूपी प्रार्थना से शक्ति मिलती है। जिस जादूगर को चाट्टन नामक आत्माओं पर अधिकार होता है, वह बहुत शक्तिशाली हो जाता है। इन आत्माओं को कोई नहीं देख पाता परंतु इनके कार्यों को सदैव अनुभव किया जाता है। किसी-किसी परिवार पर इनका दुष्प्रभाव बहुत भयंकर होता है। परिवार के सदस्यों के स्थान पर यह घर पर प्रहार करती है जैसे अज्ञात-रूप से घर पर पत्थर आदि फेंके जाते हैं। जादूगर इन दुर्घटनाओं को कुछ समय के लिए, जैसे बारह-वर्ष के लिए, अपने धार्मिक विधि-विधान द्वारा शांत कर सकते हैं तथा दुरात्माओं को कुछ काल के लिए संतुष्ट कर सकते हैं। जिन लोगों का जीवन के प्रति प्रबुद्ध दृष्टिकोण है, उन्हें 'चाट्टन' मानवता के लिए केवल एक डरावनी वस्तु लगती है।

केरल के कुछ मंदिरों में जैन और बौद्ध विहारों के शारीरिक और मानसिक रोगों का उपचार करने की विरासत, अब भी पाई जाती है। मालाबार के आंतरिक अंचल के गांवों में जैसे कन्नौर जिले में चिमेनी सांप के काटे हुए व्यक्ति को विष्णु मूर्ति के मंदिर में दैविक इलाज के लिए ले जाया जाता है। वहां पर उन्हें हल्दी का लेप जख्म पर लगाने के लिए तथा खाने के लिए दिया जाता है। पूर्ण रूप से स्वस्थ होने के लिए मंदिर में एक सप्ताह रहना पड़ता है। एल्पी जिले के मंदिर में—जहां पहले बौद्ध विहार था तथा दवाइयों पर खोज का कार्य किया जाता था, धनवंतरी-मूर्ति की पूजा की जाती है तथा एक दवाई पेट के समस्त विकारों के लिए दी जाती है। नए-चंद्रमा के दिन, बहुत से लोग, लाभ की आशा से यह दवाई लेते हैं। कोट्टम के पास एट्टमनूर के प्रसिद्ध मंदिर में त्रयोदशी को (नए चंद्रमा के 13 वें दिन) मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है। त्रयोदशी यदि शनिवार के दिन पड़ती है तो शुभ माना जाता है क्योंकि इस दिन भगवान शिव ने दुष्ट अपस्मार का संहार किया था, जिस पर वे तांडव नृत्य करते हैं। जो लोग मंदिर में इस दिन पूजा के लिए जाते हैं, वे या तो पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं या मंदिर के अंदर तालाब में डूब जाते हैं। लोगों को पूर्ण विश्वास है कि नब्बे प्रतिशत लोग ठीक हो जाते हैं।

कोची के निकट चोट्टानिकरा नामक देवी के मंदिर में मिर्गी के रोगी जाते हैं। जिन स्त्रियों पर दुरात्माओं का प्रभाव होता है, उन्हें भी इस मंदिर में ले जाया जाता है। मंदिर में ये स्त्रियां अपने नाखून बड़े पीपल के पेड़ पर गाड़ती हैं तथा अपने माथे को पेड़ से मारती हैं जिससे उनके अंदर निवास करनेवाली दुरात्मा सदा के लिए बंध जाए। यह प्रथा अब भी प्रचलित है तथा पेड़ पर बहुत से नाखूनों के निशान देखे जा सकते हैं, प्रत्येक के द्वारा अलग-अलग मानसिक समस्या का समाधान होता है। तकषि में एल्पी के निकट, का साष्टा मंदिर, बौद्ध औषधियों के लिए प्रसिद्ध है। बहुत-सी जड़ी-बूटियों से एक तेल बनाया जाता है तथा देवी को चढ़ाया जाता है। जोड़ों के दर्द और चर्मरोग आदि के रोगियों को पिलाया जाता है। मंदिर के पुजारी ही यह तेल बनाते हैं। गांव के लोग जड़ी-बूटी, जंगलों से लाकर देते हैं, परंतु स्वयं तेल नहीं बनाते हैं। पुजारी बहुत तेल बनाते हैं जो छः महीने से वर्ष भर तक चलता है। रोगी को मंदिर में रहना पड़ता है तथा पुजारियों के बताए हुए समय पर वही खाना खाना पड़ता है, उन्हीं के बताए समय पर दवाई लेनी पड़ती है। ग्रामीण समाज में औषधियों की कला तथा जादूगरी एक-दूसरे से मिले-जुले हैं। औषधि का ज्ञान केवल परिवार के मुखिया को होता है और पिता द्वारा पुत्र को विरासत में मिलता है। इस तरह के ज्ञान को गुप्त रखा जाता है।

4

रीति-रिवाज और परंपराएं

सदियों से केरल के समाज में बहुत से विचित्र रीति-रिवाज प्रचलित हैं तथा जटिल वर्ण-विभाजन के द्वारा उन्हें अलग-अलग गंभीरता से मनाया जाता है। रीति-रिवाजों और परंपराओं का मूल पुरातन काल में प्रचलित उद्योग के सामाजिक-विभाजन में निहित है तथा उनका प्रादुर्भाव उस समय की प्रचलित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति के अनुरूप हुआ। समय के साथ-साथ व्यवसाय का विभाजन पुश्तैनी हो गया क्योंकि समाज में परिवर्तनशीलता कम ही होती है। पहले व्यवसाय का विभाजन हुआ और उसके पश्चात यही जाति परंपरा का कारण बना। जिस व्यावसायिक वर्ग का समाज में जितना सम्मान था उसे उतनी ही अधिक श्रद्धा से देखा जाने लगा तथा पवित्र और उच्च भी समझा जाने लगा। इस प्रकार उच्च और निम्न जातियों का आरंभ हुआ—अधिक पवित्र जातियां तथा कम पवित्र जातियां, अधिक सम्माननीय जातियां तथा कम सम्माननीय जातियां। समाज में अलग-अलग जातियों का निर्माण हुआ जिनका अलग-अलग स्थान था तथा अलग-अलग माननीयता थी। इस प्रकार भिन्नता केवल आपस की जातियों में ही नहीं, बल्कि कुछ जातियों के भीतर भी थी।

कुछ समय पहले तक केरल में अस्पृश्यता के विषय में विचित्र विचार प्रचलित थे। निम्न जातियां अपवित्र थीं। उन्हें देखने अथवा छूने से भी मनुष्य अशुद्ध हो जाता था। उन्हें उच्च वर्ग की जातियों, जैसे नंबूदरी की दृष्टि से दूर रहना पड़ता था। कुछ निम्न-वर्ग की जातियां उच्च-वर्ग की दृष्टि में पड़ सकती थी, परंतु वह अस्पृश्य थीं। छोटी जातियों द्वारा बड़ी जातियों से दूर रहने के कड़े नियम थे। न देखने योग्य को देखने से, अस्पृश्य के स्पर्श से तथा दूर रहने योग्य की निकटता से उच्च-वर्ग के लोग अशुद्ध हो जाते थे। यह अपवित्रता केवल स्नान-धर्म और कुछ रीति रिवाजों द्वारा दूर की जा सकती थी। एक जाति भी कई भागों में विभक्त थी तथा वे एक दूसरे के निकट नहीं आ सकते थे। ये लोग एक दूसरे के साथ खान-पान नहीं कर सकते थे। केरल के हिंदू समाज में इस प्रकार की प्रथाएं प्रचलित

थीं तथा इन पर सारा जाति विभाजन निर्भर था।

कुछ जंगली जातियां जो इस भूभाग में परिवार के साथ घूमती थीं और शिकार पर अपना जीवन-यापन करती थीं, पैतृक सत्ता में विश्वास रखती थीं। यद्यपि उनके पास उत्तराधिकार में प्राप्त करने के लिए संपत्ति बहुत कम होती थी। परंतु कुछ पुरातन तथा कुछ आधुनिक जातियों में मातृ- सत्ता पर विश्वास किया जाता है। यह प्राकृतिक भी है और स्वतः सफूर्त भी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल से पैतृक सत्ता तथा मातृ-सत्ता दोनों ही प्रचलित थीं।

उत्तराधिकार मातृपक्ष से हो अथवा पितृपक्ष से—मक्कतायम अथवा मरुमक्कतायम—इसका उद्देश्य केवल जाति की आर्थिक व्यवस्था को सुरक्षित रखना था। इसके अंतर्गत बहुत से रीति-रिवाज और नियम आते हैं, रीति-रिवाजों का मूल मर्यादा के मार्ग और परंपरा में था जो जन्म से निर्धारित होती थी। सदियों से ब्राह्मण रीति-रिवाजों के रक्षक थे। अन्य जातियां इन रीति-रिवाजों को मानती थीं, परंतु उनकी देखभाल ब्राह्मणों के नेतृत्व में थी। इन रीति-रिवाजों का प्राचीन काल में क्या रूप था, यह बताना कठिन है तथा यह कब और किस प्रकार विकसित हुए यह कहना भी कठिन है। परंतु धीरे-धीरे ये रिवाज बहुत कठिन और जटिल हो गए। इन्हें आचरण के स्थान पर अनाचरण कहा जा सकता है। इस प्रकार के चौंसठ नियम प्रचलित थे जिनसे समाज की प्रगति को बाधा पहुंची। एक नियम के अनुसार ब्राह्मण लड़की अपने पति के अतिरिक्त और किसी की ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकती अथवा विधवा पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं अथवा राजगद्दी के उत्तराधिकार को नहीं प्राप्त कर सकती। इस प्रकार के नियमों के पीछे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ छुपा हुआ था।

केरल की विशिष्ट जातियों में उत्तराधिकार मातृ पक्ष द्वारा होता था। यह प्रचलन बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक प्रचलित था। पारिवारिक संपत्ति लड़कियों के बच्चों को मिलती थी। नायर-जाति के मूल तथा विकास का इतिहास कम ही मिलता है। परंतु ये लोग केरल में एक हजार वर्ष पहले ही काफी महत्वपूर्ण हो गए थे तथा उस समय तक ही मातृपक्ष द्वारा उत्तराधिकार की नीति निर्धारित हो गई थी। इस परंपरा के अनुसार पारिवारिक संपत्ति घर की बड़ी लड़की को मिलती थी, परंतु उसकी देख-रेख भाई करते थे। प्रबंध-कर्त्ता परिवार के सभी सदस्यों की देखभाल करता था तथा सभी भाई-बहनों की जिम्मेदारी उस पर थी। पारिवारिक संपत्ति लड़की के बच्चों को मिलती थी, लड़कों के बच्चों का उस पर कोई अधिकार नहीं था। नंबूदरियों की जाति यद्यपि संख्या में छोटी है, परंतु अत्यंत प्रभावशाली है। ये लोग केरल की अधिकांश उपजाऊ भूमि के स्वामी हैं, नंबूदरियों में उत्तराधिकार पितृपक्ष द्वारा होता था। उनके विवाह और संपत्ति के नियम अधिक तर्क-संगत हैं और इस कारण उनकी पारिवारिक संपत्ति विभाजित नहीं होती थी।

उनके संपत्ति-संबंधी नियम पश्चिमी देशों के नियमों के अधिक निकट थे।

केरल में भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाह संबंधी नियम प्रचलित थे। नंबूदरी पुरुष तथा नायर स्त्री के विवाह का विचित्र नियम था। नायर जाति में एज़वा और बहुत सी हाथ का कार्य करने वाली प्रजातियां थीं। इन जातियों में एक घर के सभी भाइयों की एक ही पत्नी होती थी तथा सभी बहनों का एक पति होता था। इस प्रथा के द्वारा घर की आर्थिक-व्यवस्था सुरक्षित रखी जाती थी। पहाड़ों में विवाह की अपनी ही रीतियां प्रचलित थीं। पहले वे लोग केवल बिरादरी के बाहर ही विवाह-संबंध स्थापित करते थे। उनका विश्वास था कि किसी पुरुष-पूर्वज के वंशजों में विवाह-संबंध नहीं होना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करता था तो उसे कड़ी सजा दी जाती थी। परंतु धीरे-धीरे ये लोग मैदान के लोगों के संपर्क में आए और नियमों में उदारता आ गई।

नंबूदरी तथा नायर जातियों में विवाह-संबंधों का कारण आर्थिक था। नंबूदरी जाति व्यवस्था के अनुसार नायर जाति से उच्च माने जाते थे, इसलिए नायर अपनी लड़की व बहनों को नंबूदरी से ब्याहना गर्व की बात समझते थे। नबूंदरी जाति के बड़े लड़के नायर लड़कियों से विवाह कर सकते थे। नंबूदरी जाति के लोगों को अपनी जाति में विवाह करने में तथा नायर लड़की से विवाह करने में अंतर था। यदि नंबूदरी अपनी ही जाति में विवाह करते थे तो वह एक पवित्र-बंधन था, किंतु नायर लड़की से विवाह अल्प-कालीन था। यह उच्च-वर्ग का निम्न-वर्ग से संपर्क था। जब तक नायर-स्त्री चाहती थी तब तक ही नंबूदरी पुरुष उसका पति रहता था। नायर स्त्री के बच्चों के प्रति नंबूदरी पति की कोई जिम्मेदारी नहीं थी, बच्चों को मां की संपत्ति मिलती थी, पिता की नहीं। जो नंबूदरी पुरुष नायर स्त्रियों से अनुलोभ विवाह करते थे वे मंदिरों में पुजारी होते थे तथा नायरों के परंपरागत घरों के पास रहते थे। नायर उच्च तथा अधिक प्रबुद्ध नंबूदरी से इसलिए विवाह संबंध स्थापित करते थे कि बच्चे अधिक बुद्धिमान हों तथा नायर-तरवड़ (पूर्वजों का घर) में एक पीढ़ी तक कुलीन परंपराएं बनी रहें। नंबूदरी परिवार के बड़े लड़के विवाह के पवित्र बंधन 'वेली' में बंधते थे और छोटे लड़के केवल 'संबंध' स्थापित करते थे। इन कारणों से बहु-विवाह प्रचलित था। नंबूदरी परिवार के छोटे लड़के जाति से बाहर विवाह कर सकते थे, इसलिए नंबूदरी लड़कियों को विवाह के पवित्र बंधन में बंधने के लिए नंबूदरी परिवार के बड़े लड़कों को ढूंढ़ना पड़ता था जिनका विवाह पहले ही कई बार हो चुका होता था या उन्हें जन्मभर कुंआरी रहना पड़ता था। कई बार साठ साल के व्यक्तियों की शादी तेरह चौदह वर्ष की लड़कियों से हो जाती थी। नंबूदरी स्त्रियां बहुत जल्दी विधवा हो जाती थीं। नंबूदरी पुरुष कई विवाह कर सकते थे, परंतु लड़कियों को केवल एक विवाह की आज्ञा थी। एक

बार विधवा होने पर वह सदैव विधवा रहती थीं। स्त्री और पुरुषों के लिए दुहरे नियमों का कारण आर्थिक था।

नंबूदरी स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंधनयुक्त जीवन बिताना पड़ता था। उन्हें अपने पारिवारिक मंदिर में जाते समय अपने शरीर और मुख को ढंकना पड़ता था जिससे लोग उन्हें देख न लें। घर के अंदर स्त्रियों के सम्मुख छातियों को ढंकने का रिवाज नहीं था। पुरुषों के सामने वे छातियां ढंक लेती थीं। निम्न-वर्ग की स्त्रियों का उच्च-वर्ग के पुरुषों के सम्मुख छाती ढंकना उनकी ओर से श्रद्धा की कमी का प्रतीक था। नंबूदरी स्त्रियों के चरित्र पर संदेह होने पर उन्हें कड़ी सजा दी जाती थी। उन्हें जाति से बाहर भी निकाल सकते थे और मृत्यु-दंड भी दे सकते थे। नंबूदरी स्त्री का जीवन कष्टों से भरा हुआ तथा कंटकाकीर्ण था। उन्हें बहुत छोटी आयु में दुर्बल और बेकार पति से विवाह करना पड़ता था। वह जल्दी ही विधवा हो जाती थी या आजन्म कुंआरी रहती थी।

नंबूदरी परिवार के छोटे लड़कों की इच्छा मंदिर में पुजारी बनने की होती थी तथा वह नायर लड़की से संबंध स्थापित कर लेना अधिक लाभप्रद समझते थे। नंबूदरी परिवार के बड़े लड़के नंबूदरी लड़की से विवाह के पवित्र बंधन में बंधते थे और उन्हें खूब दान-दहेज मिलता था। विवाह के उपरांत नंबूदरी लड़की का अपने पिता के घर से कोई संबंध नहीं रह जाता था। वह केवल पति के घर के कार्यों में उलझी रहती थी। उनका दर्जा केवल चल-संपत्ति के जैसा था तथा उनका बाहर के जीवन और समाज से कोई भी संबंध नहीं था।

केरल में विवाह, बच्चा होने से पहले तथा बच्चे के उपरांत तथा मृत्यु आदि के समय के जटिल रीति-रिवाजों का पालन सब जातियों से अधिक ब्राह्मण करते हैं। जीवन की हर महत्वपूर्ण घटना के लिए धार्मिक अनुष्ठान हैं जिन्हें धार्मिक पुस्तकों में लिखा गया है तथा उनका पालन किया जाता है। आधुनिक संदर्भ में, मूल्यों में परिवर्तन हो जाने के कारण, इन रीति-रिवाजों को मानना कठिन है। परंतु आज भी कुछ हद तक इनका पालन किया जाता है। इनमें से कुछ रीति-रिवाजों का जानना दिलचस्प है। इन्हें पुरातन पंथी लोग पूर्ण निष्ठा से पूरा करते हैं।

गर्भाधानम्

इस शास्त्र विधि के द्वारा स्त्री को भगवान से बच्चा होने का आशीर्वाद मिलता है।

पुंसवनम्

इस शास्त्र-पद्धति के अनुसार लड़का पैदा होता है। यह गर्भ-धारण के तीसरे महीने किया जाता है। प्रथम बार गर्भधारण के समय यह चौथे महीने में भी किया जा सकता है। गर्भवती स्त्री जौ तथा काले चने के दानों को दही में मिलाकर खाती

है, साथ ही साथ धार्मिक मंत्रों का उच्चारण भी होता है। नायर तथा एज़वा में इस उत्सव को पुलिकुटि कहते हैं। गर्भवती स्त्री प्रथम गर्भ के समय भी खट्टे फल का रस पीती है। अब इस शास्त्र-विधि का पालन नहीं किया जाता।

सीमांतम्

गर्भ के चौथे महीने सीमांतम् किया जाता है जिससे अच्छे बच्चे का जन्म हो। यदि बच्चा समय से पहले मृत पैदा होता था तो अगले बच्चे के समय यह शास्त्र-विधि पूरी की जाती थी।

जातकर्मम्

मनु जैसे विख्यात, हिंदू-धर्म के विधि-विधान निर्माता ने इस विधान के विषय में लिखा है। इस विधान के पालन से बच्चे की बुद्धि का विकास होता है लड़के के पैदा होने के तुरंत बाद इस विधान का पालन किया जाता है। विधान का रूप निम्नलिखित है। इस उदाहरण से पता चलता है कि नंबूदरी जाति के लोग इसका किस प्रकार से पालन करते थे। विधान संभवतः लड़के के पिता के लिए था—

"चेरुक्कन पिरन्नाल अपज़े जाकर्मम चेयवु। दासिक्कु पुटवकोटुतु उन्नियै कंडाल सचेला स्नानम चेयवु। सचेला स्नानम एन्नुवच्चाल तटुडुतु कुलिकुका—मंत्रस्नानम अस्तु। कुलिचु तर्पिचु ईरन तन्ने तटुटुतु, कालुकज़कि नाडुमुट्टत्तु किज़कनोकि इरूनु पवित्रमिट्टु विलक्कतु पणम वेच्चु गणपति निवेदिच्चु प्रायश्चित्तवुम, नंदि मुघवुम मंत्रताल चेयतु पवित्रम कल्लंजु कालुकजुकि पवित्रमिट्टु नेय्युम तेनुम कुटे चानेमल विट्टि पोनुकोण्टुरचु अतोरूतट्टिल वांगिइटुम पुवुम चन्दनवुम वेल्लवुम, पणवुम, पलकयुम, कोन्टु प्रसविचु किटक्कुन्न अकत्तेक्कु पोवु। किटाविने कुलिप्पिचु अम्म तन्ने अरू नक्किलयिल किटत्तियेपु। अम्मक्कत्र शक्तिइल्लंकिल मट्टोराल किटत्तियाल किटाविने अम्मा तोट्ट कज़ियु। अकत्तु चेन्नु पलकमेल किजुकुनोकि इरून्नु उण्णिये उन्नु तलिचेडुतु वलतुतुटमेल तलयायि मटियिल किटत्ति दानम चेयतु मध्वज्यम स्वर्णम कोंटटुतु मत्रम चोल्लि उण्णियुडे वायिल कोटुपु"

अनुवाद

लड़के के पैदा होने के तुरंत बाद इस शास्त्र-विधि का पालन करें। बच्चा पहली बार देखने के तुरंत बाद घर में काम करनेवाली नौकरानी को कपड़े दिए जाते हैं—स्वयं वस्त्र पहने-पहने स्नान करें—कपड़े शास्त्र-विधान के अनुसार पहनें। नहाते समय मंत्रोचारण मत करें।

स्नान के उपरांत नैवेद्य की भांति जल चढ़ाएं। गीले कपड़े पहने रहें अंदर के प्रांगण में पूर्व की ओर पालथी मार कर बैठें। शास्त्र विधि के अनुसार अंगूठी पहनें, दीपक के आगे, गणपति को चढ़ाने के लिए पैसे रखें, सजा दूर होने पर पैर

धो लें, अंगूठी फिर से पहनें, घी और शहद को मिलाकर उसमें सोना डालकर पत्थर से रगड़ें। इसे किसी बर्तन में डालें तथा उसमें फूल, चंदन का लेप करें, पानी और लकड़ी का टुकड़ा भी डालें। इन सबके साथ उस कमरे में जाएं जहां बच्चे का जन्म हुआ है। तथा मां को और बच्चे को स्नान कराकर एक पत्ते पर रखना होगा। यदि मां कमजोर है तो यह कार्य कोई और कर सकता है। मां को केवल बच्चे को छूना होगा। अंदर जाएं और लकड़ी के पट्टे पर बैठें। पूर्व की तरफ देखते हुए बच्चे पर पानी छिड़ककर उसे अपने सीधे पैर की ओर लिटाएं। शहद में सोना मिली हुई सौगात को मंत्रोच्चारण के साथ बच्चे के मुख में लगाएं। और उत्सवों के लिए भी इसी प्रकार के कठिन विधि-विधान बताए गए हैं।

नामकरणम् (बच्चे का नाम रखना)

यह विधान क्रिश्चन लोगों के बैप्टिज्म की भांति है तथा बच्चे के जन्म के बारहवें दिन इसका पालन किया जाता है। बच्चे का नाम, उसके दाएं कान में बोला जाता है। मां भी कुछ धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करती है। नायर व एज़वाओं में यह धार्मिक विधान बच्चे के जन्म के 28वें दिन किया जाता है।

वातिलपुरप्पाड (निष्क्रमणम् अर्थात् बच्चे को घर से बाहर निकालना) :

बच्चे को जन्म के चौथे महीने घर से बाहर निकाला जाता है। यदि किसी कारणवश उस समय बच्चा घर से नहीं निकल पाता तो अन्नप्राशन के समय यह कार्य किया जाता है।

चोरुण (अन्नप्राशन)

इस दिन पहली बार बच्चे को अन्न (चावल) दिया जाता है। यह धार्मिक क्रिया छठे महीने की जाती है। समस्त हिंदुओं में यह महत्वपूर्ण धार्मिक विधान है।

विद्यारंभम् (पढ़ाई-लिखाई का आरंभ)

यह विधान उस समय किया जाता है जब बच्चा तीन अथवा पांच वर्ष का हो जाता है। चौथा और छठा साल शुभ नहीं माना जाता। बच्चे की जिह्वा पर सोने के टुकड़े से 'हरि श्री गणपतिये नमः अविनमस्तु' लिखा जाता है तथा समस्त वर्णमाला को भी जीभ पर सोने के टुकड़े से लिखते हैं। बच्चे से भी यही पद 'हरि श्री' और इसके बाद अंगूठी वाली उंगली से, 'चावल' ऊपर मिश्रित धातु की बनी कटोरी में लिखवाए जाते हैं तथा बच्चे से सब अक्षरों का उच्चारण भी कराया जाता है। यह शास्त्र-विधान पिता अथवा अच्छे गुरु द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। कुछ स्थान इस धार्मिक-विधान के लिए प्रसिद्ध हैं, जैसे मालापुरम् जिले में स्थित तुचुन-परंबू। यह रामानुजम् की जन्मस्थली है जो आधुनिक मलयालम के पिता माने जाते हैं। दशहरे के दिनों में विजयादशमी के दिन बहुत से बच्चों का विद्यारंभ

कराया जाता है तथा यह विधान सरस्वती के मंदिर में जो ज्ञान की देवी हैं, पूर्ण किया जाता है।

चौलम् (मुंडन)
तीसरे अथवा पांचवे वर्ष में बच्चे के बाल कटवाए जाते हैं। इस कार्य के लिए चौथा और छठा वर्ष शुभ नहीं माना जाता। केवल शिखा को छोड़कर सब बाल काट दिए जाते हैं।

कर्णविधम् (कानों को छेदना)
यह एक विशेष प्रकार के कांटे से किया जाता है। जख्म पर मक्खन लगाया जाता है। गर्णवेधम् लड़की तथा लड़के दोनों का किया जाता है।

उपनयनम्
जब बच्चे की आयु आठ वर्ष की हो जाती है, सातवां और पांचवां वर्ष भी हो सकता है, परंतु छठा नहीं; तब उसे जनेऊ पहनाया जाता है। यह शास्त्र-विधि केवल लड़कों के लिए है। उपनयनम् का शाब्दिक अर्थ है 'किसी को किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के निकट ले जाना'।

अब बच्चे को गुरु के पास दीक्षा-संस्कार के लिए ले जाया जाता है। पवित्र धागे के साथ-साथ बच्चा हिरन की खाल (कृष्णजिनम्) भी पहनता है।

प्रैषार्तम् (वेदों तथा उपनिषद का ज्ञान)
जो गुरु बच्चे का उपनयन संस्कार करता है वही उसे वेदों और उपनिषदों का ज्ञान देता है। अब वह ब्राह्मण या द्विज हो जाता है अर्थात् उसका दो बार जन्म होता है और अब वह धार्मिक संस्कारों के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

जब किसी ब्राह्मण की मृत्यु होती है तो उसे दरला घास पर, धरती पर, दक्षिण उत्तर की दिशा में लिटा दिया जाता है। पार्थिव शरीर का सिर दक्षिण की ओर होता है। मृत व्यक्ति के कानों में मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। जब यह निश्चित हो जाता है कि व्यक्ति की मृत्यु हो गई है तो उसके शरीर को सफेद कपड़े से ढक दिया जाता है। शरीर के चारों ओर राख की पवित्र रेखा खींच दी जाती है तथा दीया जला दिया जाता है शरीर पर पानी छिड़का जाता है। कभी-कभी मृतक को स्नान कराया जाता है। माथे पर चंदन और पवित्र राख का तिलक लगाया जाता है और कान पर तुलसी का फूल लगाया जाता है। इसके बाद शरीर को एक और वस्त्र से ढक कर बांध दिया जाता है। फिर पार्थिव शरीर को श्मशान घाट ले जाते हैं। मृतक के साथ आए हुए लोग पैर धोते हैं तथा धार्मिक अंगूठी (घास/कुश की बनी हुई) पहनते हैं। श्मशान घाट के दक्षिण-पूर्व (अग्निकोण) पर केले का पत्ता रखा जाता है। पत्ते पर पानी छिड़का जाता है तथा घास और पत्तों

को झाड़ू बनाकर उससे पानी मृतक पर, मंत्रों के उच्चारण के साथ छिड़का जाता है पानी का छिड़कना अग्निकोण से आंरभ होता है और उल्टी दिशा की ओर ले जाया जाता है। तीन बार चक्कर लगाकर, तीन बार मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। पत्ते पर का बाकी पानी भी चिता पर डाल दिया जाता है, जो व्यक्ति यह धार्मिक संस्कार करता है वह अपने हाथ धोकर चिता के पैरों में दक्षिण की ओर मुख कर बैठता है। वह जमीन की मिट्टी चाकू से खोदता है और मिट्टी अपने हाथों से हटा देता है। अर्थी को लकड़ियों पर सजा दिया जाता है। संस्कार करने वाला व्यक्ति हाथ धोकर इन लकड़ियों में से एक लकड़ी लेता है तथा बाहर से एक लकड़ी लेकर चिता पर लगा देता है। सारे संबंधी घास की बनी हुई पवित्र अंगूठी पहनते हैं। उत्तर दिशा की ओर से विशेष व्यक्ति चिता को आग देता है।

शरीर के पूर्ण-रूप से भस्म होने तक मंत्रों का उच्चारण होता रहता है। मृत्यु के चौथे दिन संचयनम् संस्कार किया जाता है, मृत्यु का पांचवां दिन, बृहस्पतिवार शुक्रवार तथा मृतक के जन्म दिन पर संचयनम् नहीं किया जाता, बहुत सी हिंदू जातियों में पांचवां दिन शुभ माना जाता है। यदि उस दिन तारा अशुभ हो तो बात दूसरी है। श्मशान घाट से अस्थियां एकत्र करने के भी बहुत से संस्कार हैं। ग्यारहवें दिन पिंड का दिन होता है। प्रातःकाल सारे संबंधी स्नान करते हैं जिससे घर की अशुद्धि समाप्त हो जाती है। ब्राह्मणों के अशुद्धि के दिन दस थे, ग्यारह दिन क्षत्रियों के लिए, बारह दिन वैश्यों के लिए तथा पंद्रह दिन शूद्रों के लिए निर्धारित किए गए थे। अब लगभग सभी हिंदू दस दिन शोक के मानते हैं। मृत्यु के बारहवें महीने में एक महत्वपूर्ण संस्कार किया जाता था जिसे पंत्रदम मासम् कहते थे। पहले पूरे वर्ष भर धार्मिक-संस्कार किए जाते थे और वर्ष के अंत में बड़ा उत्सव मनाया जाता था। अब पूरे वर्ष धार्मिक-संस्कार नहीं किए जाते, क्योंकि यह आर्थिक रूप से संभव नहीं है।

नायर-जाति में स्त्रियों का विशिष्ट स्थान था तथा पारिवारिक संपत्ति स्त्रियों को मिलती थी। स्त्रियों से संबंधित उत्सवों का विशेष महत्व था। उनके जीवन के विशेष अवसर जैसे कन्या का रजस्वला होना, विवाह, गर्भधारण करना, बच्चे का जन्म, विशेष उत्साह से मनाए जाते थे। सबसे महत्वपूर्ण स्थान विवाह का था।

धार्मिक विवाह संस्कार (केट्टुकल्याणम्)

यह प्रथा नायर (क्षत्रिय, एज़वा, आर्य, पुलयास तथा अन्य कई जातियां) में प्रचलित थी। अलग-अलग आयु की बहुत-सी लड़कियां, गोद की बच्ची से 12–13 साल तक की लड़कियां तक जो एक तरवड से संबंधित होती थीं, एक ही दिन, एक ही स्थान पर, एक ही समय ब्याही जाती थीं, विवाह युवक पुरुष से किया जाता था, कभी-कभी एक ही पुरुष का किसी शुभ दिन कई लड़कियों से विवाह कर

दिया जाता था पर यह बंधन वहीं, उसी समय समाप्त हो जाता था।

कभी-कभी वर क्षत्रिय, आर्यपटन अथवा इलायटु (नंबूदरियों की निम्न जातियों) का होता था। वह पुरोहित का कार्य करता था। वह पवित्र धागा वधू के गले में बांधता था। वधू का भाई बाल-वधू को कंधे पर उठाकर सजे हुए मंडप में ले जाता था। फूस का पंडाल घर के प्रांगण के आगे सजाया जाता था। वधू विवाह का शाल (मंत्रकोटि) पहनती थी और उससे ही मुख ढंकती थी। पवित्र धागा बांधने के बाद पुरोहित अपने हाथ धो लेता था। इसका तात्पर्य था कि अब उसका बंधुओं से कोई संबंध नहीं रहा। वास्तविक शादी कई वर्षों बाद लड़की के यौवनावस्था प्राप्त करने के बाद होती थी। किंतु विवाह से पहले नायर, क्षत्रिय, तिया (नंबूदरियों को छोड़कर) आदि में ग्रह-कल्याणम् पर बहुत व्यय होता था तथा यह विवाह से भी अधिक उत्साह से मनाया जाता था। इस संस्कार पर चार दिन तक दावतें चलती थीं जिसमें, दोस्त, संबंधी तथा नायर जाति के लोग सम्मिलित होते थे। चौथे दिन, गांव की स्त्रियां तथा लड़कियां विधिवत् स्नान करती थीं तथा घर् जाकर नाच-गान होता था।

लड़की के रजस्वला होने संबंधी संस्कार

लड़की का रजस्वला होना, उसके जीवन का महत्वपूर्ण उत्सव था। रजस्वला होने के तीन दिन बाद तक लड़की को अशुद्ध माना जाता था तथा उसे अकेले घर के अंदर के कमरे में रहना पड़ता था। एक तेल का दीया कमरे में जला दिया जाता था तथा उसके सामने कांसे के बर्तन में पानी भरकर, उसमें नारियल के फूल रख दिए जाते थे। लोगों का विश्वास था कि नारियल के फूलों पर जितने कोमल नारियल होंगे, उतने ही लड़की के बच्चे होंगे। तीसरे शुभ दिन लड़की की संबंधी स्त्रियां उसे मीठा चावल भेंट में देती थीं, क्योंकि अब वह नव-यौवना हो गई। तीसरे दिन अशुद्धि का समय समाप्त हो जाता था। लड़की को घर के तालाब में ले जाते थे जहां पर विधानपूर्वक स्नान करवाया जाता था। स्नान से पहले फूलों के गुच्छों को फेंक दिया जाता था। स्नान के समय स्त्रियां लड़की के साथ तैरती थीं और गाती थीं। यह समय खुशी और उल्लास का था। स्नान के बाद गांव क़ा पुजारी धार्मिक संस्कारों द्वारा लड़की के लिए सुख-समृद्धि की कामना करता था। पांचवें दिन पुजारी लड़की को पवित्र करने का संस्कार करता था। लड़की को केले के पत्तों से सजाया जाता था तथा लड़की को उसके गुनाहों से मुक्त करने के लिए पुजारी धार्मिक गीत गाता था। पुजारी को धन तथा अन्य वस्तुएं देकर प्रसन्न किया जाता था।

विवाह-संस्कार

विवाह, लड़की के जीवन में, तीसरा महत्वपूर्ण संस्कार है। युवावस्था आने पर लड़की

का विवाह किया जाता है। इस बार विवाह वास्तविक होता था। बचपन के विवाह की तरह केवल संस्कार नहीं। नायर जाति में विवाह बहुत सीधे-साधे ढंग से किया जाता था। इस समय पूजा-पाठ इत्यादि नहीं होते थे। वर-वधू को पटवा (धोती) देता था। विवाह को वर या वधू जब चाहे तब तोड़ सकते थे जिसके लिए न्यायालय की या धार्मिक सम्मति की आवश्यकता नहीं थी। पति और पत्नी दोनों को ही विवाह संबंध तोड़ने का अधिकार था। नायर स्त्रियां दूसरा विवाह भी कर सकती थीं। नंबूदरी लोग विवाह के समय वधू को धोती नहीं देते थे और न ही गले में पवित्र धागा बांधते थे। कन्यादान पाणिग्रहण तथा सप्तपदी (अग्नि के चारों ओर सात फेरे लेना) आदि उनके विशेष विवाह संस्कार थे।

गर्भधारण के समय के विधान

स्त्री के जीवन में चौथा महत्वपूर्ण समय गर्भ-धारण का था। गर्भ-धारण की बात पक्की होने पर बहुत-से धार्मिक-संस्कार किए जाते हैं। पुलिकुडि कल्याणम् गर्भ के अंतिम दिनों में मनाया जाता था तथा यह विवाह संस्कार का चौथा रूप था।

रिश्तेदारी में विवाह

लगभग समस्त हिंदू जातियों में ममेरे अथवा मौसेरे भाई-बहनों में विवाह हो सकता है। नंबूदरियों में यह प्रथा नहीं है। लड़का अपने मामा की लड़की या बुआ की लड़की से अधिकारपूर्वक शादी कर सकता है। कुछ जातियों में जैसे रेडियार या तमिल ब्राह्मणों में बहन की लड़की से भी विवाह हो जाता है। मुसलमानों में भी चाचा, बुआ के बच्चों में विवाह संबंध हो जाते हैं, परंतु ईसाइयों में यह प्रथा नहीं है। ईसाई स्तन के संबंध में विवाह नहीं करते।

मृत्यु संबंधी संस्कार

पुरातन काल से मृत व्यक्ति के पार्थिव शरीर को समाप्त करने के लिए उसे जलाया जाता है। 'मणि मेखला' तथा 'तोलकपियम' आदि तमिल ग्रंथों में शव को समाप्त करने के और तरीके भी बताए गए हैं जैसे शव को खुले मैदान में छोड़ दो जिससे भेड़िए खा जाए अथवा शव को मिट्टी के बर्तनों में रख दो। मालाबार में खुदाई के समय कमरों में रखे हुए बड़े-बड़े बर्तन मिले हैं जिनमें शव रखे जाते थे। बर्तनों का आकार अथवा उनकी बनावट आदि मृतक की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती थी।

केरल की उच्च-जाति के हिंदुओं में मृत व्यक्ति की अस्थियों को घर के दक्षिणी प्रांगण में, एक पत्थर के बने हुए चबूतरे के नीचे रखने का रिवाज था। वह स्थान पूजनीय समझा जाता था तथा वहां प्रतिदिन शाम के समय दीपक जलाया जाता था। तुलसी का पौधा लगाकर उस स्थान को पवित्र किया जाता था। घर के बाहर आंगन में फूस की झोपड़ी बनाकर सोलह दिन तक मृतक के लिए धार्मिक विधि विधान किए जाते थे। मृतक के वंशज यह संस्कार करते थे तथा उसकी आत्मा की शांति

के लिए प्रार्थना करते थे। इस प्रकार से मृत व्यक्ति की आत्मा दुरात्मा का रूप नहीं लेती थी। आत्मा का पतन भी नहीं होता था। अब धार्मिक विधि-विधान का समय घटाकर सोलह से दस दिन अथवा और भी कम कर दिया गया है। पांचवें दिन श्मशान घाट से अस्थियों को एकत्र किया जाता है और घर के बाहर आंगन में, फूस की झोपड़ी में रखा जाता है। यहीं पर बहुत से धार्मिक संस्कार किए जाते हैं। दस अथवा सोलह दिन के उपरांत मृतक का उत्तराधिकारी, अधिकांशतः बड़ा लड़का, एक वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर साधना करता है तथा प्रतिदिन प्रेत कार्य करता है। इस प्रकार की साधना को संवत्सरा दीक्षा कहते हैं। वह अपनी दाढ़ी और बाल बढ़ा लेता है, प्रतिदिन प्रातः स्नान करता है, धार्मिक संस्कार करता है और उसके उपरांत खाना खाता है। वह अपने मस्तिष्क और शरीर को पवित्र रखता है। धार्मिक-क्रियाओं में पंडित उसकी सहायता करता है तथा मंत्रोच्चारण की विधि बताता है। इस प्रकार की धार्मिक-क्रियाएं मृत आत्मा को उसकी अंतिम यात्रा में सहायता करती है। मिश्रित-धातु के बने दीए में मृत व्यक्ति की आत्मा निवास करती है। इस दीपक के सम्मुख चंदन का लेप, तुलसी के पत्ते तथा दूर्वा घास चढ़ाई जाती है। यह क्रिया अन्य धार्मिक अनुष्ठानों की भांति ही प्रचलित है।

केरल की कुछ जातियों में प्रचलित धार्मिक विधि-विधान आधुनिक सभ्य-समाज को विचित्र से लग सकते हैं। यह विधि-विधान सीधे-सादे लोगों के जीवन के मूल्यों के विषय में सदियों से आतंरिक विश्वास का प्रतीक है। परंतु कुछ मान्यताएं अमानवीय तथा अत्यंत कठोर हैं। ये धारणाएं लोगों के अंधविश्वास के कारण फिर भी प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त यह शोषित वर्ग के लोग हैं तथा अपनी संस्कृति के मूल्य को कभी नहीं समझ सके तथा देश के उत्थान में सहयोग देने जैसी इनकी स्थिति नहीं रही। इनमें से कुछ जातियां विवाह की संस्था को पवित्र नहीं मानतीं। ये लोग विवाह के वचन को भी मान्यता नहीं देते। वयनाड के उड़िया लोगों में विवाह की संस्था प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है। स्त्री और पुरुष दोनों ही जितनी बार चाहें उतनी बार विवाह कर सकते हैं। विवाह के समय कुछ धार्मिक-संस्कार किए जाते हैं परंतु इन संस्कारों को केवल प्रथम विवाह के समय किया जाता है। जाति का मुखिया 'मूप्पन्' बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है तथा जाति के सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन पर उसका पूरा प्रभाव होता है। यदि कोई भी स्त्री पुरुष दूसरा विवाह चाहते हैं तो वे साथ-साथ भागकर कहीं जा सकते हैं तथा कुछ दिन बाद लौट कर पति-पत्नी की तरह रह सकते है। परंतु मुखिया द्वारा बताई हुई रकम उन्हें जुर्माने के रूप में देनी पड़ती है। लड़कियां यौवनावस्था प्राप्त करने के बाद ही विवाह कर सकती हैं। कुछ जातियों में तालिकेट्ट पवित्र धागा बांधने की रस्म जब लड़की बहुत छोटी होती है तभी कर दी जाती हैं, अधिकांशतः यह पवित्र धागा वही लड़का बांधता है जो यौवनावस्था प्राप्त करने पर उस लड़की

से विवाह करता है। पत्नी की मृत्यु के बाद पति को एक वर्ष तक पूर्ण साधना का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसे अपने सिर के सब बाल काटने पड़ते हैं। मुखिया उसे एक वर्ष तक नहाने, कपड़े बदलने या हंसने की इजाजत नहीं देता। यदि वह इन नियमों का उल्लंघन करता है तो मुखिया उसे एक वर्ष तक और इन नियमों को मानने के लिए बाध्य कर सकता है। कुरिच्यार जाति में तीर कमान का लोगों के व्यक्तिगत जीवन से गहरा संबंध है। परिवार में लड़का पैदा होने पर तीर चलाया जाता है जिसका तात्पर्य है कि जाति में एक और नया सदस्य सम्मलित हो गया। विवाह के समय भी वर अपने हाथ में तीर कमान रखता है। जब लड़की विवाह के लिए उपस्थित होती है तो बड़े लोग उससे बड़ा कठोर प्रश्न पूछते हैं कि क्या उसका कभी किसी और व्यक्ति से शारीरिक संबंध रहा है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लड़की उस समय केवल सत्य उत्तर देगी। सत्य कटु होने पर भी उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा। उसे अपने पाप के लिए प्रायश्चित स्वरूप केवल कुछ जुर्माना देना पड़ता है। पनियार जाति के लोगों का विश्वास है कि उनके मृतक सदैव उनके बीच में रहते हैं तथा उनके कार्यों का निरंतर अवलोकन करते रहते हैं, उनकी रक्षा करते हैं। ये लोग एक धार्मिक विधान का पालन करते हैं। जिसे निझलाट्टम कहते हैं—मृतकों का छाया नृत्य। मृतात्मा अपनी इच्छा जाति के किसी सदस्य या प्रमुख व्यक्ति द्वारा प्रकट करता है। 'पनियार' अपने मृतकों को जलाते नहीं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से शव को दुख पहुंचेगा। काक्कपाट्टु 'कौओं का गाना' मृतक के लिए महत्वपूर्ण है। यह विश्वास बहुत-सी जातियों में प्रचलित है कि वर्ष के अंत में मृतात्मा कौए के रूप में आती है और वार्षिक धार्मिक अनुष्ठानों से अपना हिस्सा लेता है।

केरल की जातियां एक-दूसरे से भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाजों में भिन्न हैं परंतु उनमें कुछ बातें एक जैसी भी हैं। उनका समाजिक जीवन बहुत बंधा हुआ है तथा उसमें मुखिया का विशेष स्थान है। मणान जाति में मुखिया को राजमणान कहते हैं। वह जाति के सदस्यों की सब सामाजिक समस्याएं हल करता है। इनको उत्तराधिकार मातृ-पक्ष से मिलता है। फिर भी परिवार में स्त्री का स्थान सबसे ऊंचा नहीं है। स्त्रियों का स्थान दासियों जैसा है, उन्हें पुरुष वर्ग के सुख के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। ये लोग जंगलों से ईंधन बटोर कर लाती हैं तथा पुरुषों की खेती के कार्य में भी सहायता करती हैं। सगाई के समय लड़कियों को कड़े इम्तिहान से गुजरना पड़ता है। विवाह से पहले उसे पति के घर जाकर रहना पड़ता है और यह दिखाना पड़ता है कि वह एक अच्छी पत्नी बन सकती है। वर के माता-पिता को लड़की से संतुष्ट होना चाहिए। यदि लड़की लड़के के घर वालों को पसंद नहीं आती तो विवाह नहीं होता। परंतु यदि इस समय में लड़की गर्भवती होती है तो विवाह स्थगित नहीं हो सकता। ये जातियां अपने मृतकों को जलाती

नहीं, दफनाती हैं। उनका विश्वास है कि यदि मृत्यु संबंधी विधान ठीक से पूर्ण नहीं किए गए तो मृतक की आत्मा उन्हें सताएगी। इसलिए वे सब धर्म संस्कार पूरी तरह निभाते हैं। जब शव को गड्ढे में डाला जाता है तो संबंधी उसपर कपड़े में बंधा हुआ चावल डालते हैं। जब गड्ढा ऊपर से पाट दिया जाता है तो उस पर एक बर्तन में पानी और चाकू रखते हैं। शायद यह रीति मृतक की भूख और प्यास शांत करने के लिए है। पालाघाट की इरुलर जाति मृत्यु और विवाह के दोनों ही समय एक प्रकार का नृत्य करती है जिसे कुरुबलम कहते हैं। शव को श्मशान ले जाने तक नाच गाना चलता रहता है। पुत्र या जो व्यक्ति संस्कार करता है, उसे सिर के बाल साफ कराने पड़ते हैं। इन संस्कारों में मृतक के भाई-भतीजों का विशेष स्थान है। मुखिया भी इन धार्मिक रिवाजों में सम्मिलित होता है। शव को गड्ढा खोदकर गाढ़ दिया जाता है तथा मृतक का सिर दक्षिण की ओर रखा जाता है, सब रस्में समाप्त होने के उपरांत दावत होती है। विश्वास किया जाता है कि मृत व्यक्ति भी दावत में सम्मिलित होता है। इसलिए उसे विधिपूर्वक खाना दिया जाता है।

नंबूदरी स्त्रियों की दशा बहुत ही सोचनीय हो गई तो समाज में इसके विरुद्ध आवाज उठने लगी। कुछ नंबूदरी स्त्रियों ने सामाजिक नियमों का विद्रोह किया। एक व्यक्ति ने , जो स्वयं नंबूदरी था, अपनी कलम द्वारा जाति की आत्मा को जगा दिया। उसके दोस्त और चाहने वाले उसे वी.टी. कहते हैं। वी.टी. भट्टतिरिपाद का जन्म, नीला नदी के किनारे बसे हुए मेजाटूर ग्राम में हुआ जो दक्षिण मालाबार में स्थित है, उनके पिता महान अग्निहोत्री परिवार के थे तथा मां आदि शंकराचार्य के वंश से थीं। उनका गांव पुरातनपंथी ब्राह्मणों का गढ़ था जहां सदैव वैदिक मंत्रों का उच्चारण होता रहता था परंतु जो भी स्त्री सामाजिक धार्मिक नियमों का उल्लंघन करती थी उसे कठोर दंड दिया जाता था। इस समय में नंबूदरियों की जागीरदारी समाप्त हो रही थी और वह अपने प्राचीन गौरव पर मजे कर रहे थे।

देश भर में स्वतंत्रता संग्राम की अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही थी। ऐसे समय में वी.टी. ने सामाजिक-परिवर्तन का नारा लगाया तथा अपनी जाति की आत्मा को झकझोर दिया। उन्होंने कठोर और अमानवीय नियमों के विरुद्ध आवाज उठाई। सन् 1930 में योगक्षेम सभा का आरंभ हुआ जिसका मुख्य कार्य स्त्रियों की दुर्गति के विरुद्ध आवाज उठाना था। सभा को लोगों का बहुत समर्थन मिला। वी.टी. को केवल अपनी जाति में ही दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि उन्होंने देश के स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया। वे गांधीवादी थे और उन्होंने गांधीजी के विचारों का प्रसार किया।

सामाजिक उत्थान के लिए और जातियों में भी आवाज उठ रही थी। नायर जाति में भी मन्नत् पद्मनाभन के नेतृत्व में आमूल परिवर्तन हो रहा था। उत्तराधिकार और विवाह आदि के नियमों में परिवर्तन हो रहे थे। श्री नारायण गुरु

ने 'श्री नारायण धर्म परिपालन संघ' का निर्माण एजवा जाति के आधुनिकीकरण के लिए किया। उन्होंने अंध-विश्वासों को दूर करने का प्रयास किया, शिक्षा का प्रसार किया तथा नए व्यवसायों को बढ़ावा दिया। इस समय में और भी जातियों में महान व्यक्तियों ने जन्म लिया। इन लोगों से प्रेरणा लेकर आय्या स्वामी, चट्टंपि स्वामिकल तथा नारायण गुरु बहुत-से नए समाज सेवियों जैसे मन्नत् पद्मनाभन, डा. पल्पु और सहोदरन अय्यप्पन का उदय हुआ।

वी.टी. की योगक्षेम सभा ने नंबूदरियों को विधवा-विवाह की प्रेरणा दी उनके उपदेश का लोगों पर गहरा असर हुआ। एम.आर. भट्टतिरिप्पाद और एम.पी. भट्टतिरिप्पाद ने विधवाओं से विवाह किया। पहले इन विवाहों का बहुत विरोध हुआ, परंतु बाद में परिवर्तन की लहर के सम्मुख सबको झुकना पड़ा।

वी.टी. ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'रसोई घर से नाटक तक' में विद्रोही स्त्रियों का चित्रण किया जिन्होंने सामाजिक परंपराओं को तोड़ दिया। इस नाटक से एक नए युग का आरंभ हुआ तथा मलयालम नाटक का भी नया विकास हुआ। इस नाटक को देखकर आर्य पलोम नाम की नंबूदरी स्त्री ने जो स्वयं भी समाज सेविका थी, ताड़ के पत्तों की छतरी, 'मरकुटा' तथा घूंघट (घोषा) का त्याग कर दिया। नंबूदरी स्त्रियों के लिए नई परंपरा का आरंभ हुआ।

आगे आनेवाले समय में केरल के सामाजिक और आर्थिक ढांचे में पूर्ण रूप से परिवर्तन आ गया। अब अस्पृश्यता तथा जातिगत भेदभाव समाप्त हो गया और अब यह केवल इतिहास की बात रह गई है। आज के दिन नंबूदरी और नायर जातियों में शादी नहीं होती है तथा नई पीढ़ी इन पुरातन प्रथाओं से अनभिज्ञ है, स्त्रियों तथा पुरुषों के बहुविवाह समाप्त हो गए हैं। नंबूदरी स्त्रियां अब अपने घरों में चल संपत्ति की भांति नहीं हैं। समस्त जातियों में संयुक्त परिवार समाप्त हो रहे हैं। किसी भी कार्य को चुनने में जाति आड़े नहीं आती। आज के केरल के आधुनिक समाज में और पचास साल पहले के ठहरे हुए अंध विश्वासों से पूर्ण केरल के समाज में कोई समानता नहीं है। आज केरल का समाज प्रगतिशील, आधुनिक और शक्तिशाली है। जाति प्रथा का पूर्ण रूप से अंत नहीं हुआ है। अब इसका एक नया रूप विकसित हो गया है। पिछड़ी जातियां सरकार से नए आर्थिक लाभ प्राप्त करने का साधन बन गई हैं।

5
मेले और त्यौहार

सबसे अधिक परंपरागत मलयाली त्यौहार ओनम है जिसके विषय में विस्तार से आरंभिक अध्याय में लिखा जा चुका है। इस त्यौहार का मूल हिंदुओं के धार्मिक-विश्वास में निहित है तथा यह समाज और जाति को एकता के सूत्र में बांधता है। ओनम मनाने में हिंदुओं के अतिरिक्त और जातियां भी सम्मिलित होती हैं। यह समस्त देश का उत्सव बन जाता है। केरल में प्रत्येक उत्सव को, अल्पसंख्यक जातियों के उत्सवों को भी, सब जातियां, सदियों से, पूर्ण उत्साह से मनाती आई हैं। यह केरल की विशेषता है। परंतु दुर्भाग्यवश किसी भी जाति ने अपने को जाति के धार्मिक-विश्वासों की सीमा से बाहर निकाल कर नहीं देखा। प्रत्येक जाति राजनीतिक लाभ उठाना चाहती है तथा वह अपने को अपने में ही सीमित रखती है। प्रत्येक धार्मिक-विश्वास, सांप्रदायिक होने पर दुःखप्रद हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में, जब धर्म का उसके अनुयायियों के लौकिक जीवन पर भी अधिकार हो तथा जातियां अपने जातिगत आधार पर राजनीति में उतर आएं तो निश्चय ही देश की परंपराएं धूल में मिल जाएंगी। कोई भी व्यक्ति, अपने धर्म के प्रति विश्वास रखते हुए भी, दूसरे धर्मों को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है। इससे उसके अपने धर्म की कभी भी क्षति नहीं होगी। यह मानवीय आवश्यकता है। त्रिशूर पुरम के त्यौहार पर जिसे अप्रैल, मलायालम के मेडम महीने में मनाया जाता है, सब छोटे और बड़े-व्यापारी, उत्सव मनाने के लिए धन देते हैं। सारे स्थानीय लोग उत्सुकता से 'पुरम्' की प्रतीक्षा करते हैं। धार्मिक अंतर को भूलकर सब लोग, मंदिर के प्रांगण में, दिन-रात उत्सव मनाते हैं। व्यापारिक-लाभ पर भी कुछ लोगों की दृष्टि हो सकती है, परंतु सब लोगों के पारस्परिक सहयोग का यही एक मात्र कारण नहीं हो सकता है। वास्तव में भ्रातृ-भाव तथा एक देश के नागरिक होने की उच्च भावना ही सबको उत्सव से जोड़ती है।

बहुत से हिंदू रीति-रिवाजों का अन्य जातियों ने भी अनुकरण कर लिया है। अपने विश्वासों के अनुसार उनमें परिवर्तन भी कर लिया है। पीतल के दीपक

(निलविलकु) का हर हिंदू धार्मिक-उत्सव में स्थान है परंतु इसे ईसाई भी अपने उत्सवों में काम में लाते हैं। विवाह के समय मंगलसूत्र पहनना हिंदू-विवाह का महत्वपूर्ण अंग हैं, किंतु ईसाइयों में भी मंगलसूत्र पहनाया जाता है। इसी प्रकार ज्योतिष तथा ग्रहों में, हिंदुओं के समान ही सारी जातियां विश्वास रखती हैं। इन मतों के देवी-देवताओं में अंतर हो सकता है। एक धर्म में किसी नक्षत्र का देवता कोई है और दूसरे में कोई। पंडित-लोग अलग-अलग देवता होने पर कठिनाई के समय में कोई उपाय ढूंढ लेते हैं। हिंदुओं के युद्ध का देवता, मुरुगा, सेंट जार्ज से मिलता-जुलता है जो घोड़े पर चढ़कर, भाले से, राक्षस के साथ युद्ध करता है।

केरल में अनेक त्यौहार लगभग पूरे वर्ष में मनाए जाते हैं। अधिकतर उत्सवों का आधार धर्म है। धार्मिक-त्यौहार अधिक महत्वपूर्ण हैं भी। हिंदुओं के मंदिरों के प्रांगण में उत्सव, समस्त जाति को, एक स्थान पर एकत्र होने की प्रेरणा देते हैं। यही अभिप्राय ईसाई और मुस्लिम 'पेरूनाल' का है। कुछ उत्सव, जैसे नावों की दौड़, धार्मिक कारणों से आरंभ हुई। परंतु अब इसका सामाजिक महत्व हो गया है। वल्लम-कलि-नाव का खेल-चंपाकुलम में मनाया जाता है। यह खेल, पम्पा नदी से देवी की मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए नाव द्वारा अंबलपुजा स्थित श्रीकृष्ण मंदिर ले जाने की याद दिलाता है। इस खेल के धार्मिक-महत्व का आज भी सारे केरलवासियों को ज्ञान है तथा इस खेल में सब लोग सामूहिकरूप से एकत्र भी होते हैं। आरन्मुला में एक और श्रीकृष्ण मंदिर है यहां भी नावों का खेल होता है। अन्य खेलों की भांति इसकी विशेषता प्रतिद्वंद्विता न होकर इसके जुलूस के चरित्र में है। आरन्मुला में 'वल्लम कालि' (नाव की दौड़) ओनम के त्यौहार के दिनों में होती है। सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाव की दौड़ को 'नेहरू ट्राफी' कहते हैं। इसका आरंभ, देश के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने सन् 1952 में किया था। पानी के खेल में नेहरू ट्राफी सबसे अधिक आनंददायक है। यह खेल पुन्नमडा की एलपी झील में, हर अगस्त के दूसरे शनिवार को होता है। पूरे विश्व से हजारों लोग यह खेल देखने आते हैं। पुरातन खेल का बिल्कुल आधुनिकीकरण हो गया है। तरह-तरह की नावें इस खेल में भाग लेती हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण सर्प नाव है। दोनों ओर से बहुत से नाविक चुंडन नावों को चलाते हैं तो यह बहुत गरिमामयी लगती है और तरह-तरह की नाव जैसे इरुट्टुकुत्ति, वैप्पू, ओडि, चुरुलन आदि नावों की दौड़ में हिस्सा लेती हैं। इन्हें बेहद कलात्मक ढंग से बनाया जाता है और यह भी ध्यान रखा जाता है कि यह तेजी से पानी में तैर सके। वास्तव में ये नावें केवल नाव की दौड़ के लिए ही बनाई जाती हैं। छोटी बड़ी तरह-तरह की नावें दिन-प्रतिदिन के कार्यों में भी काम आती हैं। केरल के धार्मिक तथा सामाजिक सारे त्यौहार सर्वप्रिय ईस्वी सन् के साथ-साथ कोल्लम युग (कोल्ला वर्षम) पर आधारित मलयाली कैलेण्डर के अनुसार मनाए जाते हैं। कोल्लम् का 1161 वर्ष,

सन् 1986 के बराबर है। यह समय चिंगम के पहले महीने में 25 अगस्त, 825 से आरंभ हुआ। इसे सूर्य-वर्ष कहते हैं। कोल्लम काल का आरंभ केरल के दो स्थानों से संबंधित है, एक उत्तर केरल से, दूसरा दक्षिण केरल से। दोनों का ही नाम कोल्लम् है। दक्षिणी-कोल्लम् का ईसाई नाम कोईलोंण है तथा उत्तरी कोलाम (पन्तलायणि) कोयिलांडि के बहुत पास है। इस काल का आरंभ चेरा राज्य के राजा उदयमार्तंड वर्मा ने किया। उन्होंने बहुत से विद्वान लोगों की सहायता ली जिन्हें खगोल-विद्या का ज्ञान था। उन्होंने सूर्य की गति को समझकर इस नए वर्ष का आरंभ किया। इस विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न विचार थे।

विलियम लोगन[1] ने मालाबार के रीति-रिवाजों के विषय में लिखा है कि श्री शंकराचार्य ने कोलम में चौंसठ 'आचार' के विषय में 25 अगस्त, 825 ई. को उपदेश दिया जो कोल्लाम् वर्षम् का पहला वर्ष और पहला दिन है। उसने इस काल के आरंभ के विषय में लिखा–

0	6	1	4	3	4	1
ACH	AR	YA	RA	KA	BHED	YA

इसका तात्पर्य है कि आचार्य के शब्दों को बदला नहीं जा सकता। यहां पर आचार्य का तात्पर्य शंकराचार्य से है और नए वर्ष के दिन आचार्य ने 64 'अनाचारम्' के विषय में ब्राह्मणों को बताया। इनमें से कुछ अनाचार हैं–'दांतों को लकड़ी की तीली से साफ मत करो, नहाने से पहले खाना मत बनाओ, किसी से छूने पर दुबारा स्नान करो, किसी भी ऐसे स्थान पर मत जाओ जिसे झाड़ू से साफ किया गया है, जहां भी जाओ वह स्थान धुला होना चाहिए।' परंतु कुछ लोगों का विचार है कि शंकराचार्य ने इस प्रकार के आचार के विषय में कुछ नहीं लिखा।

कुछ लोगों का विश्वास है कि कोलम-वर्ष का आरंभ उस समय हुआ जब अंतिम चेरमान् पेरुमाल ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया, वे इसी दिन मक्का की यात्रा को निकले। इस विचार को भी मान्यता नहीं दी जा सकती । कोई भी राज्य धर्म-परिवर्तन को इतना महत्व नहीं दे सकता कि उससे नए वर्ष का आरंभ हो। डॉ. गुंडर्ट का विचार है कि इस दिन एक शिव-मंदिर बनना आरंभ हुआ था। यह विचार भी मान्यता के योग्य नहीं है। एक और विचारधारा के अनुसार ओनम त्यौहार से इस नए वर्ष का आरंभ हुआ। यदि इस विचार को मान लिया जाए तो बहुत कठिनाई उपस्थित हो जाएगी, क्योंकि तब इस त्यौहार का पुरातन-महत्व नहीं रहेगा। नया काल, पुराने काल की ही निरंतरता का प्रतीक है। एक हजार वर्ष पूर्ण होने पर नए काल का आरंभ होता है। खगोल-शास्त्रियों ने परंपरागत 'सप्तऋषि'

1. मालाबार, खंड-1, विलियम लोगन, पृ.–155-56

काल परिवर्तित कर कोलम-वर्ष का आरंभ किया होगा। सप्तऋषि-काल का आरंभ मेष के महीने में होता है। कोलम वर्ष का प्रथम महीना 'चिंगम्' या 'सिम्हा' होता है। स्थानीय गणना के आधार पर कोलम-वर्ष को इस महीने से आरंभ किया गया होगा।

किसी महत्वपूर्ण घटना के आधार पर वर्षों की गणना समय की धारणा देती है तथा यही धारणा आने वाले वंशों को दी जाती है। परंतु समय की धारणा भी प्रकृति का नियम नहीं बदल सकती, मौसमों की लय में भी अंतर नहीं पड़ सकता, इसके साथ-साथ उस भू-भाग के भू-गर्भ संबंधी परिवर्तनों से भी यह धारणा मिलनी चाहिए। गणना का आधार वैज्ञानिक होना चाहिए। विज्ञान के अनुसार बाईबल में दी हुई जीवन की उत्पत्ति की कहानी काल्पनिक हो सकती है। महान ग्रंथों में दी हुई समय की गणना या काल-चक्र की कल्पना मनुष्य के लिए अतिपूर्ण हो सकती है। हिंदू मान्यताओं के अनुसार हम अब कलियुग से गुजर रहे हैं। इस पौराणिक-धारणा का खगोल-शास्त्रियों की गणना से संबंध है। समय एक देवता है (सर्प-अनंत), उसका न कोई आरंभ है, न अंत। यह कवित्वमय भाषा में काल चक्र की वैज्ञानिक परिभाषा है। समय के तीन कार्य हैं—सृजन, पालन तथा संहार। कोलम काल को भी समय चक्र की भांति लेना चाहिए। कोलम काल का एक चक्र एक हजार वर्ष का है तथा इस समय उसका चौथा चक्र चल रहा है।

यदि कोलम-वर्ष का आरंभ किसी महत्वपूर्ण स्थानीय घटना पर आधारित होता तो उसका भी वही अंत होता जो पुडुवैपु काल का हुआ। पुडुवैपु का आरंभ सन् 1341 में हुआ। इस समय पेरियार नदी ने कोची की भूमि के एक टुकड़े वैप्पू को काट दिया। भूगर्भ के परिवर्तन पर आधारित यह वर्ष आरंभ के बाद लंबे समय तक नहीं चल सका। किसी देश के इतिहास में यह महत्वपूर्ण घटना नहीं थी। कोलमकाल कलियुग और सप्तऋषि काल से प्रभावित होगा। इन दोनों काल के विषय में पुराण में लिखा हुआ है। इनके आधार पर ही खगोल शास्त्री गणना कर पाए होंगे।

समय की महान धारणा को सम्मुख रखकर जब मनुष्य अपने जीवन के कार्यक्रम की रूपरेखा बनाता है तो वह नक्षत्रों और तारों की स्थिति को देखता है। नक्षत्रों की संख्या नौ है, परंतु मनुष्य के जीवन में सूर्य और चंद्रमा का बहुत स्थान है। वह समय की गणना सूर्य के आधार पर करता है। सूर्य और चंद्रमा के महीनों का मनुष्य के जीवन में सूर्य और चंद्रमा का बहुत स्थान है। वह समय की गणना सूर्य के आधार पर करता है। सूर्य और चंद्रमा के महीनों का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

सूर्य अधिक शक्तिशाली है तथा चंद्रमा को सूर्य की रोशनी मिलती है। फिर भी ज्योतिष के अनुसार चंद्रमा का मनुष्य के जीवन पर बहुत प्रभाव है। संस्कृत

भाषा में 'मास' का अर्थ है चंद्रमा और इस शब्द का दूसरा अर्थ महीना भी है। चंद्रमा के दिनों के द्वारा चंद्रमास बनता है जिसका चंद्रमा की कलाओं से सीधा संबंध है (पूर्णिमा तक बढ़ना तथा अमावस तक घटना)। मनुष्य के जीवन और भाग्य की गणना चंद्र-माह द्वारा की जाती है, जो मनुष्य के जीवन के 84 वर्ष पूर्ण कर लेता है उसके जन्मदिन को शतभिषेकम् कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि उसने अपने जीवन में 1000 पूर्ण चंद्रमा देख लिए हैं। चंद्रमा का स्थान तथा एक नक्षत्र-मंडल से दूसरे नक्षत्र-मंडल में जाने का समय, धार्मिक-कारणों से, देखा जाता है। चंद्रमा एक महीने में 27 नक्षत्र-समूह से गुजरता है जिसमें 27 दिन लगते हैं। चंद्रमा एक नक्षत्र-समूह में 24 घंटे रहता है। अश्विनी, भरनी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आद्रा, पुनर्वसु, पूष, अश्लेष, मघ, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, श्रवणा, धनिष्ठा आदि 27 नक्षत्र हैं। चंद्र माह की गणना पूर्णिमा से आरंभ होती है तथा 14 दिन चलती है। जिन दिनों चंद्रमा निकलता है, उन दिनों को शुक्ल-पक्ष कहते हैं तथा अन्य दिनों को कृष्ण-पक्ष। चंद्रमा के 14 दिन बाद अमावस आ जाती है, चंद्रमाह में 28 दिन होते हैं। नए-चंद्रमा और पूर्णिमा के 14 दिन बाद के दिनों को पक्ष या तिथि कहते हैं। यह पक्ष इस प्रकार है—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, पष्ठी, सप्तमी, अष्ठमी, नवमी, दसवीं, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी।

ज्योतिष के अनुसार कुछ तिथि ख़राब माने जाते हैं जैसे चतुर्थी या अष्ठमी को शुभ नहीं माना जाता। मलयाम में एक उक्ति प्रचलित है कि किसी अप्रिय व्यक्ति को देखना ऐसा है जैसे चांद को चतुर्थी के दिन देखना। चतुर्थी का दिन शुभ भी हो जाता है, क्योंकि इस दिन विनायक का जन्म हुआ जो मनुष्य को सब संकटों को दूर करते हैं। अष्टमी श्रीकृष्ण, शिव और भद्रकाली के लिए महत्त्वपूर्ण है। केरल के बहुत से मंदिरों में देवी-देवताओं के जन्म-दिवस को उत्साह से मनाया जाता है। कुछ नक्षत्रों को ज्योतिषी बहुत बुरा समझते हैं। ज्योतिषियों के अनुसार सात तारों को, किसी भी शुभ कार्य के समय दूर रखना चाहिए—यमा, रुद्र, अहि, मुप्पुरम त्रिक्केट्ट इव एज़ नाल वितक्किल विलय भूमि यात्रा पोकिलवन वरा ज्योतषियों के अनुसार इन पंक्तियों का अर्थ है कि यदि इन दिनों अनाज भी बोया जाता है तो वह उगता नहीं और यदि आप किसी यात्रा पर जाते हैं तो कभी लौट कर घर नहीं आते।

इन मान्यताओं की भी सीमा है। धनु के महीने में (दिसंबर-जनवरी) जब चंद्रमा सबसे अधिक शक्तिशाली होता है, तब रुद्र तारे के दिन शिवजी का जन्मदिन मनाया जाता है जो शुभ माना जाता है। इसी प्रकार यम, कुंभ और मीन के महीने में (फरवरी, मार्च, अप्रैल) मां भगवती का (उनके अनेकों रूप में) जन्मदिन है। यह उत्सव केरल के मंदिरों में बहुत उत्साह से मनाया जाता है।

भगवान विष्णु का जन्म दिन चंद्रमा से संबंधित न होकर सूर्य देवता से संबंधित है। यह मेष महीने के प्रथम दिन पड़ता है। ज्योतिष के अनुसार यही नव-वर्ष भी है। सूर्य मीन राशि को छोड़ कर मेष राशि में, विषुवत् से एक दिन पहले पहुंच जाता है। मेष के महीने में दसवें दिन जिसे पट्टमुडयम कहते हैं (इसका शाब्दिक अर्थ है दसवें को सूर्योदय) सूर्य सबसे ऊंचाई पर पहुंच जाता है। इसी दिन रात और दिन बराबर होते हैं। 'विषुवत्' शब्द का तात्पर्य है दिन और रात में संतुलन।

ओनम और विषु केरल के दो मुख्य त्यौहार हैं। पहला उत्सव पुरातन टूटे स्वप्न का प्रतीक है तथा दूसरा त्यौहार भविष्य की आशा का प्रतीक है। एक पुरानी कहावत है—'धन की परवाह न करते हुए आपको ओनम मनाना चाहिए।'

ओनम धार्मिक उत्सव है, परंतु केरल की सारी जातियों और धर्मों के लोग ऊपर कहीं छुपी शक्ति में विश्वास रखते हैं। विषु का संबंध किसी धर्म अथवा देवता से नहीं है परंतु यह आगामी समृद्ध वर्ष की कामना करता है। पुराने जमींदारी-समाज में खेतों में काम करनेवाले लोग अपने मालिकों को उपज की वस्तुएं शुभकामनाओं के रूप में भेंट में देते थे तथा वह उन्हें रुपए पैसे देकर प्रसन्न करते थे। प्रत्येक मलयाली घर में, विषु से पहले दिन, रात्रि के समय, घर के प्रांगण या किसी महत्वपूर्ण स्थान पर विषुक्कणि मनाया जाता है। परंपरागत रूप से कणि मिश्रित धातु का बना हुआ दीपक है तथा उसके सम्मुख मिश्रित धातु के बने गोल बर्तन उरुली को तरह-तरह से सजाया जाता है। ये वस्तुएं हैं चावल, नया तह किया कपड़ा, आइना, सोने के आभूषण तथा कोन्ना फूल (मोटी दालचीनी के फूल)। बर्तन के चारों ओर सज्जा की वस्तुओं को बढ़ाया जा सकता है, विषु अनाज की कटाई के बाद मनाया जाता है, इसलिए फल और फूलों का विषुक्कणि में बहुत महत्व है। इस मौसम में कोन्ना फूल बहुत होते हैं।

प्रातः काल, प्रथम वस्तु को देखना, हर घर में बहुत महत्वपूर्ण है। मां अथवा दादी, घर के हर सदस्य को बंद आंखों से उस स्थान पर ले जाती हैं जहां कणि को सजाया गया है। विषु के दिन पहली दृष्टि सुसज्जित कणि पर पड़ती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह सुखद अनुभूति पूरे वर्ष आंखों और मस्तिष्क के सम्मुख रहती है और अच्छे भाग्य का उदय करती है। बहुत से लोग गाते-बजाते कणि को लेकर, गांव के घर-घर जाते हैं जिससे सब लोग विषु की दी हुई भेंट देख सकें। घर में माता-पिता बच्चों को सोने के आभूषण या चांदी के सिक्के भेंट में देते हैं। घर का बड़ा सदस्य छोटों को तथा संबंधियों को भेंट देता है। इन रीति-रिवाजों का कोई धार्मिक महत्व नहीं है। इस उत्सव का महत्व केवल सांसारिक है। यह संबंधियों और मित्रों को प्रेम के बंधन में बांधता है और इस उत्सव द्वारा, भविष्य के लिए, भौतिक सुखों की कामना की जाती है। इस समय खेती का चक्र

पूरा हो जाता है। धान, कटहल और आम आदि खूब होते हैं। यदि मौसम यथासमय हो तो विषु गर्मी के अंत में पड़ता है और दसवें मेडाम के बाद वर्षा हो जाती है। मंदिरों के सब उत्सव मेडाम (अप्रैल) तक समाप्त हो जाते हैं। आज के युग में मौसम-संबंधी ज्योतिष गणना गलत पड़ जाती है तथा लोगों के सारे कार्य कलापों में कठिनाई पड़ जाती है। पहले मंदिर के सब उत्सव बरसात से पहले, उजली धूप में मनाए जाते थे। जुलूस निकलते थे और उत्सव खुले में दिनों में, उत्साहपूर्वक मनाए जाते थे। परंतु अब प्रकृति मनुष्य की गणना के विपरीत कार्य करती है। संभवतः इसका कारण मनुष्य की लापरवाही और कठोरता है। जंगलों की अंधाधुंध कटाई, नियमानुसार अथवा अनियमित, प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ देती है तथा मौसमों के चक्र में परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक रूप से विषु और ओनम आते हैं और चले जाते हैं जो अब केवल एक रीति-रिवाज मात्र है। इनकी जीवंतता खो गई है और केवल सुंदर यादें शेष रह गई हैं।

ओनम के समय सब मलयाली लोग उत्सव मनाने के लिए उत्साहित होते हैं, क्योंकि बसंत ऋतु आरंभ हो जाती है और खेतों में कटाई की शुरुआत हो जाती है। निरा और पेलि दो शब्द हैं जो प्रकृति की उदारता के प्रतीक हैं। मुडपोलि समस्त कृषक जंगल में लोकप्रिय है। चाहे वह साधारण खेतों में काम करने वाले लोग हों अथवा खेतों के मालिक, सब लोग मिलकर प्रार्थना करते हैं कि कटाई के बाद धान तौल में अधिक से अधिक निकले। जिस समय धान का ढेर बनाया जाता है उस समय कोई नहीं जानता कि धान कितना हुआ। खेती करनेवाले श्रमिकों का विश्वास है कि यह अनाज का ढेर पवित्र है। कोई भी व्यक्ति तौलने से पहले, धान के ढेर को क्षति पहुंचाएगा तो स्वयं उसकी हानि होगी। चावल सबसे पहले मंदिर में देवता को चढ़ाया जाता है। ग्रामीण जनता का विश्वास है कि गांव का रक्षक देवता उपज को आशीर्वाद देगा तथा सारे काम करनेवालों को उनका हिस्सा सही सही-मिल जाएगा। खेतों के मालिक श्रमिक, अनाज की बिक्री करनेवाले, सभी मिल-जुलकर प्रार्थना करते हैं-निरा (भर दो) पोलि (बढ़ा दो)। घर को भर दो (इल्लम-निरा), टोकरी को भर दो (वल्लमनिरा), समस्त वर्ष को भर दो (कोल्लमनिरा) तथा अनाज को बढ़ा दो (नाडुपोलि)। समस्त देश में समृद्धि हो (पोलियो पोलि)। लोगों में व्यक्तिगत मनमुटाव होते हुए भी सारी जातियां एक होकर उत्साह से भर उठती हैं। इस प्रकार यह त्यौहार समस्त देश का उत्सव बन जाता है। पौराणिक महत्व से हटकर उत्सव का सामाजिक महत्व हो जाता है। सब लोग मिल-जुलकर खाते-पीते आनंद मनाते हैं।

पुराने समय में, उत्सवों में खेलों द्वारा आनंद मनाया जाता था—खेल चाहे बाहर खेले जानेवाले हो अथवा अंदर। ताश या शतरंज को बाहर पूरे उत्साह के साथ शर्त लगाकर खेला जाता था। पहले समय में बहुत से खेल प्रचलित थे, परंतु

अब अधिकांशतः लोकप्रिय नहीं रह गए हैं। कुछ खेल केवल स्त्री और पुरुषों द्वारा खेले जाते थे। पुराने खेलों जैसे किलिटटु—इस खेल को किलमास भी कहते हैं। कुटुकुटु, कय्याकलि, तणंगुकलि, पंतुकलि, तलपंटु आदि का स्थान फुटबाल और बैडमिंटन ने ले लिया है। पंतुकलि ओनम पर खेला जानेवाला सबसे प्रचलित खेल है। इस खेल को अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तरह से खेलते हैं। सूखे हुए केले के पत्तों को बांधकर, उसके अंदर छोटा पत्थर रखकर, केले के धागों से बांधकर टैनिस की गेंद के बराबर गेंद बनाई जाती है, खिलाड़ी दो भागों में बंट जाते हैं, एक लकड़ी का डंडा (नट) एक तरफ खड़ा कर दिया जाता है, उस तरफ के खिलाड़ी, दूसरी तरफ गेंद फेंकते हैं। वे लोग गेंद लपकने का प्रयत्न करते हैं। यदि वे गेंद हाथ में ले लेते हैं तो जिस खिलाड़ी ने गेंद फेंकी थी, वह खेल से बाहर हो जाता है। यदि इस पक्ष के लोग गेंद लपकने में असमर्थ रहते हैं तो उधर के खिलाड़ी को एक और मौका मिलता है। यदि गेंद लकड़ी को लग जाती है तो गेंद मारनेवाला खिलाड़ी विजयी माना जाता है। खेल इस क्रम में चलता है। तलपंटु (लकड़ी के डंडे की तरफ मुड़कर सिर से ऊपर गेंद फेंकना), ओट्टा (दाएं हाथ में गेंद पकड़ना, गेंद को धीरे से फेंकना तथा फिर दाएं हाथ में तेजी से गेंद को मारना इरट्ट, (गेंद को बाएं हाथ में पकड़ना, फेंकना और दाईं हथेली से मारना), मुरुक्की (दाएं हाथ को बाएं से पकड़ना, शरीर के पिछले भाग से तथा गेंद को दाएं हाथ से मारना), कालुम्कीझु (दाएं हाथ से गेंद को दाएं पैर की तरफ फेंकना, गेंद को पैर से उठाकर दाएं हाथ से मारना), इनडान (गेंद को पैर से मारना), और फिर पहली हरकत; तलपंटु जीतनेवाले खिलाड़ी लकड़ी के डंडे के चारों ओर गोल घेरे में एकत्र होकर नाचते गाते हैं। कुटु-कुटु सीधा खेल है जिसमें खिलाड़ी दो हिस्सों में बंट जाते हैं। बहुत से दर्शक उत्साह के साथ खेल को देखते हैं। खेल के मैदान में बीच में, एक रेखा खींच दी जाती है और इस प्रकार एक आयताकार रूप का मैदान तैयार हो जाता है। एक तरफ का खिलाड़ी, रेखा के दूसरी ओर कुटु... कुटु...कुटु...कहता हुआ बढ़ता है वह लंबी सांस खींचकर, दूसरी तरफ के खिलाड़ियों की तरफ बढ़ता है। यदि वह बिना पकड़ में आए बीच की रेखा तक पहुंच जाता है तो उसकी जीत होती है। यदि वह पकड़ लिया जाता है या सांस ले लेता है तो हार जाता है। गांवों के और भी खेल हैं जैसे किलिटाटु, कोंडोटि, आट्टकलम आदि—सब खेलों में बेहद शारीरिक व्यायाम होता है तथा शरीर बिल्कुल स्वस्थ रहता है। इन परंपरागत खेलों को देश के हित के लिए बहुत उन्नत किया जा सकता है। परंतु आधुनिक खेलों के सामने इन्हें कोई महत्व नहीं मिलता।

तिरुवातिरा, केरल में स्त्रियों का त्यौहार है। यह मलयालम के महीने धनु (दिसम्बर-जनवरी) में मनाया जाता है। यह भगवान शिव का जन्मदिन है। शिवजी ने क्रोधित होकर अपने तीसरे नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया था। इस दिन

कामदेव को पुनः शरीर प्राप्त हुआ। केरल की स्त्रियां कामदेव के पुनर्जन्म को उत्साह पूर्वक तिरुवातिरा के दिन मनाती हैं। वे पूरे दिन पूजा-साधना करती हैं। कड़कड़ाती सर्दी में सुबह-सुबह तालाब में स्नान करती हैं। फिर वे सुंदर वस्त्र धारण करती हैं, बढ़िया खाना खाती हैं और पान से होठ लाल करती हैं। झूला झूलना उनके आमोद का मुख्य साधन है। स्त्रियां सारी रात नृत्य करती हैं। सारी स्त्रियां गोल घेरे में, जले हुए धातु के दीपक के चारों ओर नाचती हैं। वे स्वयं गाना गाती हैं और नृत्य भी करती हैं। वे परंपरागत वस्त्र—दो हिस्सों में, धोती तथा ऊपर का वस्त्र पहनती हैं। इन वस्त्रों में वे पवित्र-सौंदर्य का प्रतीक लगती हैं। मुख्य-स्त्री गाने की एक पंक्ति गाती हैं, इसी पंक्ति को शेष सब स्त्रियां सम्मिलित रूप से गाती हैं। गाने की लय बहुत सीधी सरल होती हैं। लय को पकड़कर, ताली-बजाकर सब मिलकर, गाती हैं। कुछ गाने केवल तिरूवातिरा के दिन ही गाए जाते हैं। कथकली के कुछ गाने भी सम्मिलित कर लिए जाते हैं। गानों की गति सरल होने के कारण, नई स्त्री भी उनमें आसानी से सम्मिलित हो सकती है। यह नृत्य प्रथा सदियों से प्रचलित है तथा इसके मूल हाव-भाव, शरीर के मोड़, हाथों की गति, नृत्य के भाव, सब लगभग परंपरागत हैं। यह नृत्य स्त्रियोचित कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। इस पर्व का 'एट्टागा डि-चुड़का' का विशेष रिवाज है। स्त्रियां आठ पौधों की जड़ों के मोटे भाग को लेकर आग में पकाती हैं। पौधों की मोटी जड़ें कामदेव का प्रतीक है और इस रीति के द्वारा काम-देवता का पुनर्जन्म होता है। इन्हीं जड़ों से स्वादिष्ट और विशेष खाने की चीजें बनाई जाती हैं। कहीं-कहीं पर स्त्रियां केवल यही विशेष खाना खाती हैं। रातभर नृत्य और गायन होता है, परंतु मध्य रात्रि में स्त्रियां फूलों का शृंगार करती हैं। भगवान शिव की मूर्ति, धातु के दीए के सम्मुख रखी जाती है। फल केले के पत्ते आदि भेंट-स्वरूप चढ़ाए जाते हैं। स्त्रियां मूर्ति के चारों ओर नृत्य करती हैं, हर स्त्री, भेंट चढ़ाए फूलों में से कुछ को उठाकर अपनी सज्जा करती हैं। जड़ों से बने खाने के पदार्थ 'पुजुक' तथा गोले का पानी स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। इनमें कैलशियम, फास्फेट, पोटाश आदि लाभप्रद वस्तुएं होती हैं। इसी प्रकार ठिठुरती सर्दी में तालाब में स्नान शरीर को शीतल और संतुलित करता है। इस त्यौहार का धार्मिक महत्व है, परंतु स्त्रियां आमोद-प्रमोद और व्यायाम में समय व्यतीत करती हैं। समस्त रीति-रिवाजों का तात्पर्य है, सुखी-समृद्ध वैवाहिक जीवन। अर्ध-रात्रि को फूलों से सुसज्जित होने के उपरांत नाच-गाना प्रातःकाल तक चलता है तथा सुबह शरीर को शुद्ध करने के बाद पर्व समाप्त होता है।

नीचे लिखा हुआ गाना तिरुवातिरा पर्व का वर्णन करता है :

देखो, धनु के तिरुवातिरा
यह हमारे ईश का जन्म दिन है,
हमारी देवी के उपवास का दिन

हमारे भी उपवास का दिन,
हमें नृत्य करना है, गाना गाना है
आओ अदेमर[2], हम स्नान करें,
मैं कानों के कुंडल और आभूषण दूंगी
हमें नृत्य करना है, गाना है
आओ वारस्यार[3], केरल की स्त्रियां आओ, स्नान करें,
फूल और धागा मैं दूंगी,
हमें नृत्य करना है, गाना गाना है।[4]

केरल के हिंदू समस्त देश की भांति नवरात्रि, शिवरात्रि, दीपावली और कृष्णाष्टमी के पर्व मनाते हैं। नवरात्रि का दिन आयुध पूजा का दिन है-केरलवासी अपने सब औजार, जिनसे वे जीविकोपार्जन करते हैं, मां सरस्वती के चरणों में रख देते हैं, जो ज्ञान की देवी हैं। विजयादशमी की पूजा तक सब यंत्र वहीं रखे रहते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि यंत्रों को उठाने पर उनमें नई शक्ति आ जाती है। केरल में सब मंदिर चाहे वह विष्णु मंदिर हों, शिव-मंदिर हों या काली-मंदिर, सब मंदिर दस दिन के लिए सरस्वती-मंदिर बन जाते हैं। यद्यपि धार्मिक-विश्वास के अनुसार नवरात्रि को दुर्गा मां ने महिषासुर राक्षस का संहार किया था, परंतु केरल में यह पर्व ज्ञान की देवी सरस्वती का पर्व है।

महाशिवरात्रि का पर्व कृष्णचतुर्दशी के दिन, मख (फरवरी-मार्च) के दिन पड़ता है। महाशिवरात्रि केरल का महत्वपूर्ण पर्व है। पेरियार नदी के रेतीले किनारे पर आलुवाय के शिव मंदिर में शिवरात्रि उत्साह से मनाई जाती है और हजारों लोग मृतक व्यक्तियों का प्रेत-कर्म करते हैं। इस धार्मिक रीति का संबंध भगीरथ मुनि द्वारा साधना से गंगा नदी को पृथ्वी पर लाने से है। भगीरथ मुनि ने अपनी तपस्या से अपने मृत पूर्वजों को अनंत मुक्ति दी। भगवान शिव ने गंगा को अपने बालों में धारण कर लिया। यह पर्व के इस पुरातन घटना के उपलक्ष से मनाया जाता है। वैक्कम, त्रिक्कन्डियुर, कालीकट आदि के शिवमंदिरों में वैभवपूर्ण ढंग से शिवरात्रि मनाई जाती है।

ईसाइयों का त्यौहार पैरूनाल (बड़ा दिन) उत्साह से मनाया जाता है। क्रिसमस के दिनों में प्रत्येक ईसाई घर को क्रिसमस के तारों से सजाया जाता है। श्रद्धालु लोग क्रिसमस से पहले, शुक्रवार का दिन धर्म-साधना आदि में बिताते हैं। पहले साधना तपस्या 25 दिनों तक चलती थी और एक दिसंबर को आरंभ हो जाती थी।

---

2. नंबूदरी स्त्रियां
3. वैरियर जाति की स्त्रियां
4. सेन्सस ऑफ इंडिया, 1961, खंड-VII, केरल, पृ.14 से अनुवाद

देश भर के चर्च क्रिसमस को उत्साह से मनाते हैं। कैथोलिक-चर्चों में क्राइस्ट की बच्चे के रूप में मूर्ति भी रखी जाती है जिसकी लोग पूजा करते हैं। यह प्रथा केवल कैथोलिक-चर्च में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त और सब चर्च में केवल पवित्र क्रास को ही स्थान मिलता है। रात्रि के समय पटाखे आदि भी चलाए जाते हैं जो इस त्यौहार को अधिक रंगीन और भव्य बना देते हैं।

क्रिसमस के समय में बहुत से हिंदुओं के त्यौहार भी मनाए जाते हैं। देश के कोने-कोने में, प्रत्येक सड़क और सार्वजनिक स्थान पर लोग त्यौहारों का आनंद उठाते हुए दिखाई पड़ते हैं। मध्य नवंबर से मध्य जनवरी तक हिंदुओं की धार्मिक तपस्या का लंबा समय होता है। जनवरी के महीने में हिंदू लोग शबरीमल के मंदिर जाते हैं। यह मंदिर जंगल के बीच में स्थित है।

इस मंदिर के देवता अय्यप्पा हैं जो केरल की सब जातियों की एकता के प्रतीक हैं। घने जंगल से गुजरते हुए श्रद्धालु लोग धार्मिक नारे लगाते हैं। इन नारों द्वारा इस तीर्थ के धार्मिक दर्शन को समझा जा सकता है। इस तीर्थ के समय उच्चरित शब्द शरणाम् का सीधा संबंध बौद्धों के प्रसिद्ध शब्द–'बुद्धम शरणम् गच्छामि' से है। अय्यप्पा वैष्णव और शैव धर्म के समन्वय के प्रतीक हैं जो उनके नाम हरिहर सुत (भगवान शिव और विष्णु का पुत्र) से भी पता चलता है। अय्यप्पा की उपासना के आरंभ के विषय में बहुत-सी लोककथाएं तथा महान धार्मिक ग्रंथों की कहानियां प्रचलित हैं और उनमें एक-एक कथा तो त्रेतायुग जितनी प्राचीन है। इस कथा के अनुसार शबरीमल, अय्यप्पा के रहने का स्थान–शबरी के रहने का स्थान था। जिस समय श्रीराम सीता को ढूंढने जा रहे थे शबरी ने उनके दर्शन किए। एक दूसरी कथा के अनुसार अय्यप्पा बुद्ध के रूप हैं। केरल के और मंदिरों से शबरीमल का मंदिर भिन्न है। यह हिंदू और मुसलमानों की एकता का प्रतीक है। इस मंदिर की सीमा में एक पवित्र स्थल है (बाबर के लिए) जिसकी सब जातियों के लोग पूजा करते हैं। बाबर मुस्लिम था। परंतु उसका अय्यप्पा से गहरा संबंध था। स्थानीय लोक-गीतों में इसका उल्लेख है। अय्यप्पा और बाबर में भयंकर युद्ध हुआ। परंतु अंत में दोनों में दोस्ती हो गई और दोनों मिलकर शत्रुओं से इस स्थान की रक्षा करने लगे। दोनों ने मिलकर इस क्षेत्र में शांति स्थापित की। शबरीमल के मंदिर जाने के लिए बहुत तैयारी करनी पड़ती है। पहले इकतालीस दिन तक तपस्या करना आवश्यक है। इस समय श्रद्धालुओं को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता है। संभवतः इसके द्वारा मनुष्य कठिन जंगलों और पहाड़ों पर जाने के लिए तैयार होता था। पहले तीर्थयात्रियों को काफी दूर तक पैदल चलना पड़ता था। यात्रा कई दिन तक चलती थी। अब बहुत-सी सुविधाएं हो गई हैं, यात्रा सुगम हो गई है और इस कारण से तीर्थ यात्रियों की संख्या बढ़ गई है। प्रत्येक आने वाले यात्री को पेड़ पर तीर लगाना पड़ता है। धार्मिक चरित्र मलिकपुरत्तम्मा

के विषय में कथा प्रचलित है कि वे ब्रह्मचारी अय्यप्पा से विवाह करने को बेहद उत्सुक थीं। अय्यप्पा का कहना था कि वह तभी विवाह करेंगे जब मंदिर में कोई नया तीर्थयात्री नहीं आएगा। इस प्रकार मलिकपुरत्तम्मा कि इच्छा हमेशा ही अधूरी रह जाती है। उनका मंदिर अय्यप्पा के मंदिर के पास ही है। उनकी मूर्ति को जुलूस के साथ पीपल के पेड़ के नीचे ले जाया जाता है। वहां पता चलता है की बहुत से नए दर्शनार्थी आ गए हैं। यह अतुलनीय और अनंत प्यार का नाटक हर वर्ष खेला जाता है।

अय्यप्पा के उपासकों का ईसाई-धर्म में भी गहरा संबंध है। एल्पी में अरतुंगल में स्थित सैंट एन्ड्रयू चर्च में लाखों श्रद्धालु हैं जो ईसाई-धर्म के भी होते हैं तथा अन्य धर्मों के भी। सैंट सेबैस्टियन का दिन बीस जनवरी को मनाया जाता है। सैंट सैबेस्टियन भयंकर बीमारियों और दुर्घटनाओं को दूर करने वाले हैं। अट्ठारह जनवरी को चर्च के दरवाजे शबरीमल से आनेवाले तीर्थयात्रियों के लिए खोल दिए जाते हैं। पहले अधिकांश तीर्थ-यात्री सैंट सेबैस्टियन को श्रद्धा अर्पित करने जाते थे। वे सैंट सेबेस्टियन को वैलुत्तचन कहते थे जो अय्यप्पा से संबद्ध भी थे और साथी भी।

ईस्टर के दिन, ईसा को पुनर्जीवन मिला। यह ईसाइयों का सबसे पुराना और प्रेरणादायक त्यौहार है। ईसा का पुनर्जन्म एक नए विश्व की स्थापना का प्रतीक है जिसकी ईसा-मसीह ने कामना की थी। यंत्रणा भोगते हुए ईसा मसीह की याद में, चालीस दिन तपस्या में बिताए जाते हैं। उन दिनों सच्चा ईसाई अपने खाने-पीने को नियंत्रित रखता है और वैराग्य का जीवन व्यतीत करता है। नई पीढ़ी के लोगों ने इन नियमों का पालन लगभग बंद कर दिया है। परंतु आज की वरजिन मैरी का दुःख तथा ईसा मसीह का जीवन और उनका मानव-प्रेम केवल ईसाइयों के ही नहीं बल्कि समस्त मानव जाति को प्रेरणा देता है तथा जिन लोगों को मानवता से प्रेम है, उनके लिए वह सुंदर भविष्य की आशा है।

समस्त विश्व के लोग रमजान को अपना विशेष त्यौहार मानते हैं। रमजान चंद्रमा के वर्ष के सातवें महीने में पड़ता है। इन दिनों हर मुसलमान व्रत रखता है तथा अपना समय नमाज़ पढ़ने और अपने को पवित्र करने में लगाता है। मुसलमानों के धर्म के अनुसार धार्मिक अवसरों पर व्यर्थ दिखावा या आडंबर नहीं होना चाहिए। परंतु मुसलमानों के कुछ स्थानीय उत्सवों में, जो धार्मिक व्यक्तियों की याद में मनाए जाते हैं, दूसरी जातियों के प्रभाव से, भव्य जुलूस आदि निकाले जाते हैं। मुस्लिम स्त्रियां, रजमान के दिनों में, गाती हैं और मिल कर नाचती हैं। मालाबार के कुछ प्रचलित गाने—मोपलापाट्ट इन दिनों गाए जाते हैं। रमजान के दिनों में गरीबों को खाना बांटा जाता है केरल में बकरीद भी मनाई जाती है जो मुसलमानों का विश्व भर में विशेष त्यौहार है। इस दिन नमाज पढ़ी जाती है।

मुसलमान लोग और जातियों के लोगों के यहां, औपचारिक रूप से, मिलने जाते हैं। बकरीद का त्यौहार महापुरुष इब्राहिम को समर्पित है। देवता-पुरुष इब्राहिम ने खुदा की इच्छा के लिए, मक्का में, माऊंट मिना के पास अपने एकमात्र पुत्र की हत्या कर दी। देवता-पुरुष का यह महान कार्य लोगों को खुदा की इच्छा के सम्मुख समर्पित होने की प्रेरणा देता है। मिलादी शरीफ के दिन मुसलमानों के पैगंबर का जन्म हुआ। मिलादी शरीफ अप्रैल के महीने में मनाया जाता है। इस दिन केरल के मुसलमान मनलूड पैगंबर की जीवनी पढ़ते हैं। मुस्लिम विद्वान उत्सव के दिन धार्मिक विषयों पर भाषण देते हैं तथा उनमें धार्मिक भावना जाग्रत करते हैं। हिज्र वर्ष के आरंभ में मोहर्रम पड़ता है। यह मुसलमानों को, विशेषकर सीया मुसलमानों को, ईमाम हुसैन के दुःखद बलिदान की याद दिलाता है।

6

मौखिक-साहित्य

किसी भी देश का मौखिक-साहित्य उसके जन-साधारण का साहित्य है। इस साहित्य में भावों की अभिव्यिक्ति प्राकृतिक, सांसारिक और काव्यात्मक ढंग से होती है। यह प्राचीन साहित्य है और इस साहित्य का न कोई लेखक है और न लिखित इतिहास। यह अशिक्षित लोगों का साहित्य है और उनकी भावनाओं के निकट है। गाने बार-बार गाए जाते हैं और जन-साधारण के मस्तिष्क में अंकित हो जाते हैं। कोई भी लोक-गायक किसी भी स्थिति को लेकर गाने की रचना करता है और बाद में और लोग वही रचना गाने लगते हैं। मौखिक-साहित्य लिखित साहित्य के इतिहास का अंग नहीं है, इसका संबंध भाषा के इतिहास से है, इसमें प्रतिदिन की बोलचाल के शब्द हैं, स्थानीय विवरण हैं, और ग्रामीण-रूपक हैं। गीतों के रचयिता हर्षातिरेक के क्षणों में गाते हैं। उनकी भावनाएं अंतस् के उद्वेग से बह उठती हैं। गांवों में ये गाने तुरंत प्रचलित हो जाते हैं। एक ही गाना अलग-अलग गांवों में अलग-अलग तरह से गाया जाता है। यह भिन्नता ही इस साहित्य को मौखिक-रूप देती है। मौखिक-साहित्य को लिपिबद्ध करते समय, उसके मूलभूत चरित्र में अंतर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी मौखिक-साहित्य को रचना-काल के बाद के समय में लिपिबद्ध किया जाता है। परंतु मौखिक-साहित्य को अक्षरों का रूप देकर लिखना बहुत कठिन है। एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाते-जाते इस साहित्य का रूप बदल जाता है और कभी-कभी यह अधिक समृद्ध हो जाता है। हर ग्राम अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार इस साहित्य में अंतर कर देता है तथा स्थानीय रूप में ढाल देता है। इस प्रकार जब किसी एक स्थान के लोक गीत को लिपिबद्ध करते हैं तो दूसरे स्थान का उतना ही जीवंत गीत अनलिखा रह जाता है। लोक-गीतों की विशेषता एक पंक्ति को बार-बार दोहराने में है। अनाज की कटाई जैसे शारीरिक श्रम के मौकों पर गानों की पंक्तियां विशेष रूप से बार-बार दोहराई जाती हैं। शारीरिक-श्रम बहुत कठोर होता है, परंतु बार-बार दोहराए जाने वाले गाने की लय से वह हल्का हो जाता है। एक व्यक्ति गाने की पंक्ति गाता

है और फिर उसके साथी मिलकर, सम्मिलित स्वर में वही पंक्ति गाते हैं। इस प्रकार सभी श्रमिकों में सम्मिलित लक्ष्य की भावना उदित होती है। इन लोक-गीतों में पुराने रूपक हैं तथा पारिवारिक झगड़ों या मानव की मूल प्रकृति का वर्णन है। इन गीतों में मनुष्य की व्यक्तिगत कल्पना सामाजिक रूप ग्रहण कर लेती है, कभी-कभी व्यर्थ और अर्थहीन शब्द अर्थपूर्ण भावनाओं के माध्यम बन जाते हैं। ये शब्द मनुष्य के हर्षातिरेक के क्षणों में उसकी स्वतः स्फूर्त रचनात्मकता की अभिव्यक्ति के साधन हैं। अनजाने साहित्यकारों का कार्य आगामी पीढ़ियों तक पहुंचता है, क्योंकि इस साहित्य में आंतरिक सत्यता और सरलता है।

बहुत-सा लोक साहित्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचते-पहुंचते परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक पीढ़ी का उसके मौखिक-साहित्य पर प्रभाव होता है और कभी-कभी कोई व्यक्ति-विशेष, अनचाहे क्षणों में उसको सुंदरता से भर देता है। कभी-कभी बिल्कुल परदेशी शब्द लोक-साहितय में घुस जाते हैं, हम पुराने संगीत, 'तंपुरान्-पाट्ट' में अंग्रेजी शब्द 'बैंड' को सुनते हैं तथा पुराने लोक-नाटक 'काक्कारिशा' में 'सेफटी पिन' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। लोक-साहित्य सामयिक-समाज का हिस्सा है तथा उस समय की सामाजिक स्थिति को चित्रित करता है, इसलिए इस प्रकार का परिवर्तन होना स्वाभाविक है। कभी-कभी लोक-साहित्य में परिवर्तन बहुत अशिष्ट व असभ्य हो जाता है। यह परिवर्तन परंपरागत 'तमाशा' में देखा जा सकता है। स्वंतत्रता के बाद इस लोक विद्या का इतना दुरुपयोग नहीं हुआ। जिस भाषा में लोक-साहित्य की रचना होती है वह भी बहुत बदल जाती है जैसे मलयालम में अंतर आ गया है। मौखिक-साहित्य का आरंभ 12वीं सदी में हुआ होगा जो 'रामचरितम्' का समय था। कुरिंचि गीत ईसा पूर्व तीसरी सदी में गाए गए। परंतु आज की पीढ़ी उन्हें समझने में असमर्थ है यद्यपि ये गीत केरल के मौखिक साहित्य की निधि हैं।

तमिल भाषा द्रविड़ लोगों की भाषा थी। भूगर्भ-शास्त्रियों के अनुसार दक्षिण भारत उत्तरी भारत से समुद्र द्वारा विभक्त था। उस समय दक्षिण-भारत में रहने वाले लोग नेगरीटो मूल के थे। उनको प्रोटो-आंस्ट्रोलोयड मूल के लोगों ने अधीन कर लिया। विजयी लोगों की भाषा द्रविड़यन थी। यह भाषा गोदावरी नदी के दक्षिण में उत्तर की जंगल में रहनेवाली जनजातियों द्वारा पहुंची। पांच हजार वर्ष पहले तक आर्यों और द्रविड़ों के बीच भीषण संग्राम होता रहा। द्रविड़ संस्कृति और भाषा उत्तर-भारत से समाप्त हो गई और दक्षिण भारत में सीमित हो गई।

मलयाली लोगों की मातृभाषा मलयालम है। मलयाली का मूल, दक्षिण-द्रविड़यन भाषा, तमिल में है। दक्षिण-भारत के प्रत्येक प्रदेश में प्रांतीय भाषा विकसित हुई जिन्होंने बाद में जाकर तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम का रूप लिया।

काडवेल के अनुसार 'तमिल' शब्द 'द्रविड़' से निकला। यद्यपि प्राकृत में ध्वनि

का अंतर इस प्रकार है– द्रविड़ परिवर्तित हुआ 'डामिडा और डा' बदलकर 'द्रा' हो गया। कुछ विद्वानों का मत है कि 'द्रविड़' शब्द, संस्कृत में 'तमिल' से निकला है। रोमन लोगों ने भारत के नक्शे पर 'डामी-राइस' लिखा जिसका तात्पर्य था द्रविड़। द्रविड़ शब्द लोगों के मूल-स्थान के विषय में बताता है, उनका भौगोलिक क्षेत्र और भाषा के बारे में सूचित करता है।

मलयालम भाषा पर संस्कृत-ग्रंथ 'लीला-तिलकम्' में लिखा है कि मलयालम भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न है तथा चोला, चेरा और पांड्या की द्रविड़ भाषा में सम्मिलित है। इस ग्रंथ में तथा और द्रविड़ ग्रंथों में लिखा है कि मलयालम को ही पहले तमिल कहते थे। पहली भाषा को 'मलयायमा' या 'मलयनमा' कहते थे। काडवेल का विचार है कि मलयालम तमिल की ही पुरानी शाखा हैं।[1] डा. गुडर्ट इस विचार से सहमत नहीं हैं। तमिल भाषा ईसा पूर्व तीसरी सदी में विकसित हुई और उसके उपरांत चैंतमिल का विकास हुआ। दक्षिण की यह भाषा बाद में विकसित हुई। और यह अन्य भाषाओं से भिन्न थी। चैंतमिल भाषा के विकास से पहले ही द्रविड़ लोगों का आर्य संस्कृति और भाषा से परिचय हो गया था। सदियों में जो मौखिक-साहित्य हम तक पहुंचा है, वह तमिल और संस्कृत का मिला-जुला रूप है–तमिल का प्रादेशिक परिवर्तित रूप 'कोडुंतमिल' है। कोडुंतमिल साहित्य का रूप नहीं है। यह केवल जनसाधारण की भाषा है।

आरंभिक चैंतमिल भाषा को, दक्षिण भारत के केरल के विद्वानों ने समृद्ध किया। उन्होंने 'पटिट्टपाटु', 'चिलापतिकारम्' जैसे महान ग्रंथ लिखे। 'पटिट्टपाटु' कविताओं का संग्रह है जिसमें चेरा-राजाओं का दस भिन्न-भिन्न कवियों ने गुण-गान किया है। चिलापतिकरम में चेरा-चोला और पांड्या राजधानियों का विवरण है जिनका नाम है वांची, पुकार, मदुराई। यह ग्रंथ चैंतमिल में लिखे हुए हैं। संधम् के समय में चेरा राजाओं ने, अपने देश के बाहर से कवियों को बुलाया, परनार और कपिलार उनके प्रसिद्ध राज-कवि थे। चेरा-राज्य के समय में लिखे हुए कुछ शिलालेख भी चैंतमिल भाषा में लिखे हुए हैं। यह लेख राज्य के दक्षिणी भाग में तमिलनाडु की सीमा के पास मिलते हैं। इस क्षेत्र में चैंतमिल का प्रभाव बहुत अधिक था।

परंतु इस प्रदेश की भाषा–बोली जानेवाली भाषा तथा राज्य भाषा 'कोडुंतमिल' थी, यह स्वतंत्र भाषा थी तथा इसका संबंध मूल द्रविड़-भाषा परिवार से था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चैंतमिल भाषा और कोडुंतमिल भाषा में कोई संबंध नहीं था। दोनों भाषाओं में बहुत से शब्द एक से थे चैंतमिल साहित्यिक भाषा थी।

'कोडुंमतमिल' जन-साधारण की भाषा थी। इसलिए अधिकतर लोकगीत इसी

1. डॉ. गुंडर्ट–मलयालम डिक्शनरी एंड ए कंपरेटिव ग्रामर

प्रादेशिक भाषा में लिखे हुए हैं।

साहित्यक चैंतमिल से यह भाषा निश्चय ही अलग थी। बाद में नंबूदरियों ने कोडुंतमिल और संस्कृत का समन्वय कर एक नई भाषा का निर्माण किया। कोलेजुत और वट्टेजुत लिपि से मलयालम ग्रंथ-लिपि का आरंभ हुआ और बाद में आर्य एजुत लिपि विकसित हुई। भाषा के विकास में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन था। चेरा और पाड्या देशों में वट्टेजुत लिपि का प्रयोग हुआ। दक्षिण भारत में महाराज अशोक के, ब्राह्मी-लिपि में लिखे हुए शिलालेखों से, यह लिपि अधिक विकसित थी। समस्त चेरा राज्य में इस लिपि का ज्ञान था। बाद में कोलेजुत लिपि विकसित हुई जो वट्टेजुत से मिलती-जुलती थी। परंतु उसे 'कोल' नामक यंत्र से लिखा जाता था मलयालम तीसरी लिपि है। यह वट्टेजुत से निकली और दक्षिणी त्रिवेंद्रम में प्रचलित थी। मलयालम की वर्णावलि, जिसे आर्य एजुत कहते है, नौवीं सदी से आरंभ हुई। महाकवि उल्लूर ने अपनी पुस्तक 'केरल-साहित्य-चरित्रम्' में लिखा है कि उनका यह दृढ़ मत है, तुंचत रामानुजन् एजुत्तचन, जिन्हें आधुनिक मलयालम का पिता कहा जाता है तथा जिनका काल 15वीं 16वीं सदी है, केरल में आर्य-एजुत को विकसित करने वाले प्रथम लेखक नहीं हैं।

बहुत से लोक-गीत, बड़े गीत, छोटे गीत, शास्त्र-विधि संबंधी गीत, सामाजिक आमोद-प्रमोद के गीत, त्यौहार-संबंधी गीत, पहेलियां, कहानियां, भक्ति गीत आदि लंबे काल से चले आ रहे हैं। फिर भी उन्हें बहुत प्राचीन नहीं का जा सकता। इनमें से अधिकांश गीत मध्य-काल के हैं। प्राचीन काल का कुछ साहित्य भी जीवित रहा है। विधि-संबंधी गीतों में टोट्टम का विशेष स्थान है।

टोट्टम का तात्पर्य है सहज ज्ञान या जिसका जन्म मस्तिष्क में हो। इस अर्थ द्वारा ही टोट्टम के मौखिक चरित्र का आभास होता है। तोंट्टम को अचिंतित रचना भी कह सकते हैं। इस शब्द का एक और अर्थ भी है--अनंत-शक्ति की भक्ति का गीत, ये लोक-कविताएं हैं, परंतु कभी ईश्वर की स्तुति के गीत बन जाती हैं। मन्नान, वेलन जाति से संबंधित हैं। वह 'चिलापटिकरम' से लेकर 'कन्नकी' और 'कोविलान की कहानी' टोट्टम में गाता है। इसके अतिरिक्त दरिका राक्षस के काली मां द्वारा किए गए संहार की कहानी भी मन्नान सुनाता है। पहले अध्याय में 'कलमपाट्ट' के विषय में काफी लिखा जा चुका हैं। इन धार्मिक-रीतियों में गाए जाने वालें गीत कलमबद्ध नहीं किए जाते और न ही उन्हें छापा जाता है। टाट्टम के गायकों का विश्वास है कि इन गानों को लिखना पाप है। केरल के दक्षिणी भागों में गाए जाने वाले टोट्टम में तमिल शब्दों की बहुतायत है तथा कन्नकी की कहानी विशेष रूप से सुनाई जाती है। मां काली के गीत उत्तर की और क्वीलोन प्रांत में गाए जाते हैं। यह गीत एज़वा गाते हैं और इनमें तमिल का स्पर्श कम है।

विधि-संबंधी गीत, गांवों में विशेष अवसरों पर गाए जाते हैं। महीने के प्रथम

और अंतिम दिन ये गाने गाए जाते हैं—संभवतः जाने वाले महीने को विदाई देने के लिए तथा आने वाले महीने का स्वागत करने के लिए। ये गाने घर को बुराइयों से मुक्त करने के लिए भी गाए जाते हैं। इसलिए इनमें जादू का भाव रहता है। गांव में वेलन के गाने को 'मवरतम् पाट्टु' कहते हैं। गानों में महाभारत की कहानियों का प्रसंग रहता है। दुर्योधन कई प्रकार से पांडवों को नष्ट करने का प्रयास करता है। पांडव भीमसेन की बहादुरी के कारण कठिनाई से निकल जाते हैं। 'निज़ालकुत्तु' की कहानी भी विस्तार से सुन ई जाती है। 'निज़ालकुत्तु' का अर्थ है जादू द्वारा शत्रु का संहार। ऐसा विश्वास कियः जाता है कि दुर्योधन ने पांडवों के विनाश के लिए भरत मलयान जादूगर की सहायता ली थी। 'वेलन' लोगों का विश्वास हैं कि वे मलयान के वंशज हैं। इन जादूगरों को बहुत-सा साहित्य रटा हुआ है जिसे गाने में कई दिन लग जाते हैं। यह दिलचस्प बात है कि महाभारत की कहानी पृथ्वी के आरंभ की सुंदर कहानी से आरंभ होती है। गीत इस प्रकार आरंभ होता है—'एक समय था जब न आरंभ था न अंत, चार-वेद नहीं थे, ज्ञान नहीं था। पौराणिक-पुस्तकें नहीं थीं। दिन, रात चंद्रमा, सूर्य कुछ भी नहीं था। कोई देवदूत नहीं थे, कोई राक्षस नहीं थे ऐसे समय में एक अंडा अनंत-आकाश में उत्पन्न हुआ। यह अंडा धागे का बनाया गया अकेला-धागा था। इससे ब्रह्मा, विष्णु और महेश का जन्म हुआ। इस अंडे के टूटने से समस्त विश्व का निर्माण हुआ। इस कहानी के उपरांत वेद-व्यास के जन्म की कहानी बताई जाती है तथा कुरु-राज्य की कहानी का वर्णन किया जाता है। दक्षिण के क्षेत्रों में 'मवरतम्-पट्टु' प्रचलित है जिसमें दुर्योधन द्वारा पांडवों के विनाश करने के उपाय बताए गए हैं। यहां गाने वाले अलग जाति के लोग हैं। इन्हें 'कुरवा' कहते हैं। कुरवा भी पांडवों को मारने के लिए निज़ालकुत्तु (छाया पर हथियार घोंपना प्रयोग करते हैं। दुर्योधन ने कुरवा जादूगर से पांडवों का नाश करने के लिए कहा। कुरवा जादूगर पर पांडवों की कृपा रही थी। इसलिए वह यह कार्य करने में हिचकिचाता है। इस पापकर्म से बचने के लिए वह सामानों की लंबी सूची पकड़ता है। इनमें इस प्रकार की असंभव चीजें हैं, —हाथियों के अंडे, घोड़ों के अंडे, पत्थर की जड़ें, चांदनी के अंकुर, मिट्टी की रस्सी, दरवाजे की खड़खड़ाहट आदि। प्रत्येक वस्तु ऐसी है जिसे दे पाना असंभव है। पांडवों को उनकी छाया में छेद कर-कर मार दिया गया। गाने में बताया गया है कि पांडव किस प्रकार फिर से जीवित हो गए।

मन्नार और पुलयार (कण्णकि-टोट्टम, मणिमंकटोट्टम) गाते हैं। इन गानों में 'चिलपटिकरम' की कहानी है। इस कहानी के कई रूप हैं। मणिमनका का जन्म वैश्यजाति में हुआ। उसका विवाह पालका से हुआ। मणिमनका ने अपने सोने के नूपुर अपने पति को बेचने के लिए दिए। पांड्या राजा ने, सोने के व्यापारी से मिलकर पालका की हत्या करवा दी और सोने के नूपुर स्वयं ले लिए।

देवी काली की कृपा से मणिमनका पांड्या राज्य में पहुंची। उसने काली की दी हुई तलवार से पांड्या-राजा की हत्या कर दी तथा उसके पति ने पुनर्जीवन प्राप्त किया। सोने का व्यापारी भी उसके क्रोध से नहीं बच सका। पालघाट जिले की कण्णियारकलि को देशाटुकलि, डेस्टुकाली, मण्णटुकालि और लालाकालि भी कहते हैं। काली के विषय में विधि-विधान हैं। विधि-विधान तीन दिन तक चलते हैं। अंडी, वैलौन और 'मलमा' प्रत्येक दिन के विधान के अलग-अलग नाम हैं। गानों में 'पुलया' की कहानी सुनाई जाती है। कुछ 'पुलया' अपने मालिक के यहां से भागकर दूसरे स्थान पर चले गए। रास्ते में ही उनके पुराने मालिक ने उन्हें पकड़ लिया और वापस ले आया। इस गाथा से केरल की उस समय की सामाजिक स्थिति का पता चलता है। पुलया जैसी निर्बल जातियों के साथ बड़ा अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। ये लोग अपने मालिकों के लिए दास के समान थे। इन गीतों में मां काली तथा अन्य देवी-देवताओं जैसे गणपति का गुणगान किया गया है। परंतु इन गानों में विभिन्न जातियों की स्थिति का भी विवरण है। नृत्यों में सैनिक-अनुशासन है। गाने स्वतः स्फूर्त्त हैं जो 'तोंट' का मूल है। श्रद्धालु लोग हर्षातिरेक की स्थिति में गाने गाते हैं। कुछ गाने लय-ताल बद्ध होते हैं, परंतु कुछ गाने गद्य में होते हैं। इनकी भी स्वतंत्र लय-ताल होती है। कुछ स्थानों पर इन गानों का 'पना-टोट्टम' कहते हैं (टोट्टम जिसे पना या मिट्टी के बर्तन पर ताल देकर गया जाए) टोट्टम के कई प्रकार गद्य-रूप हैं, जैसे, एक टोट्टम में काली-मां द्वारा दरिका राक्षस के संहार की कहानी है, दूसरे में पांडवों के प्रयास की कहानी चित्रित की गई है। ग्रामीण-गायकों ने इन विषयों को अपनी कल्पना के अनुरूप गाया और रूप-रंग दिया है। एक दिलचस्प टोट्टम में एक लड़की द्वारा हाथी को जन्म देने की कथा का विवरण है, जिसका तात्पर्य गणपति के जन्म से है। गणपति समस्त संकटों को दूर करने वाले हैं। केरल के लोक-साहित्य में गणपति बहुत प्रिय देवता हैं। किसी भी शुभ-कार्य को आरंभ करने से पहले गणपति का नाम लिया जाता है। गणपति को प्यार से कुडवयरा (मोटे पेट वाला), एकदंता (एक दांत वाला), आना मुघवने (हाथी की शक्लवाला) कहते हैं और देवताओं की प्रशंसा के गानों के आरंभ में गणपति पूजन किया जाता है जिससे भाग्योदय हो। गणपति के विषय में बहुत से गीत हैं जिनकी विशिष्ट संरचना है। बहुत से गणपति के गीत वाद्य के साथ गाए जाते हैं और उनपर कलिनृत्य किया जाता है जैसे 'वेलकलि' 'पटयानी' आदि। कुछ शास्त्र संबंधी गाने, जैसे कनियार जाति का गंधर्वन-पाट्ट या पाणन-पाट्ट भी हैं। कभी-कभी शब्दों के उच्चारण से गाने को लयबद्ध किया जाता है और कभी-कभी गाने को वाद्यों द्वारा लयबद्ध किया जाता है। इन शब्द समुदायों का संगीत में स्वतंत्र अस्तित्व है। परंतु ये वाद्यों के साथ भी गाए जाते हैं। उस समय समांतर और साथ-साथ लय निकलती है। प्रत्येक अक्षर अलग-अलग वाद्य में भिन्न

होता है जो वाक्य-रचना तथा उस वाद्य की भाषा है जैसे एडक्का पर कुछ अक्षर तेन...कू...कू, तेन...तेन कू...कू इत्यादि।

इन शब्दों के द्वारा लय की सीमा निर्धारित होती है। परंतु यह सीमा कविता के छंद की भांति संकीर्ण नहीं होती। छंद के नियमों को सीमित रूप से, भंग किया जा सकता है। गायक को अपनी मनःस्थिति के अनुरूप गायन की गति बनाए रखनी पड़ती है जिसकी प्रेरणा शारीरिक श्रम, जैसे फसल की कटाई आदि से मिलती है।

जादू-टोने के गानों में, कुछ शब्दों की विशेष शक्ति को, मंत्रों में सम्मिलित किया जाता है। विश्वास के अनुसार, मंत्रों का प्रारंभ गुरु को करना चाहिए। 'वशाल' 'स्वाहा' और 'वोशाल' आदि मंत्रों में प्रयोग किए जाने वाले शब्द हैं। मंत्रों का प्रयोग दुष्टता के दमन के लिए किया जाता है, शत्रुओं की पाप दृष्टि को दूर करने के लिए, किसी को आकर्षित करने के लिए, मनुष्यों, पालतू जानवरों तथा अनाज की बीमारियों को दूर करने के लिए भी मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। जादू-टोने के गाने गुप्त रखे जाते हैं। शिष्य को मंत्र की प्राप्ति केवल गुरु से होती थी। गानों में जो कुदृष्टि को दूर करने के लिए गाए जानेवाले कुछ मंत्रों में पुनरुक्ति का प्रयोग होता था। कुदृष्टि समस्त शरीर पर प्रभाव डालती है–

दूर हो जाओ, ओ कुदृष्टि
तिरछे बहाए हुए बालों से
दूर हो जाओ माथे के सुंदर
बिंदु से, भौओं से,
तथा काली आंखों से...

यह कुछ पंक्तियां मलयालम के मंत्र-गीत से हैं। गाने की प्रत्येक पंक्ति के अंत में, धार्मिक-क्रिया में रत व्यक्ति, अपनी सांस बाहर निकालता है तथा चुटकी बजाता है जो आंतरिक जादुई शक्ति का प्रतीक है। पुराने ट्रावनकोर के कन्नीकर और मलयारयास के बहुत से दिलचस्प गीत हैं जिनमें उनका भूपतियों से संबंध चित्रित किया गया है। कुछ गीत जातियों की पराशक्तियों का विवरण करते हैं तथा इनमें भूपतियों से उनके निकट संबंध चित्रित किए गए हैं। एक गीत में एक छोटे राज्य के राजा ने आर्यों के मुखिया को पत्र लिखा कि उन्होंने विशेष पर्वतीय वस्तुएं जैसे शहद, हाथी दांत, विशेष सुगंध आदि उनके पास भेंट स्वरूप नहीं भेजा। यह भेंट राजा को देने के लिए आर्य मुखिया अपने साथियों के साथ चला। कई दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद भी राजा से भेंट नहीं हुई। आर्यों ने भेंट में लाई हुई वस्तुएं जैसे केले, शहद आदि को स्वयं खाना आरंभ कर दिया। जब उन्होंने जंगली बिल्ली को आग में भूनने के लिए रखा तो उसकी तेज गंध राजा तक पहुंची। उन्होंने आर्य मुखिया को सजा देने का निश्चय किया। आर्य जादूगरों ने जादूगरी के ऐसे कमाल दिखाए कि राजा प्रसन्न हो गया और उसने आर्य मुखिया को माफी

दे दी। आर्यों के गीतों में नदी पर बांध बनाने की कहानियां हैं जिससे बगल के राज्यों को पानी न मिले। बांध के टूटने पर नर-बलि देने का विवरण है। इस प्रकार अमानुषिक नरबलिप्रथा से संबंधित गाने बाद में प्रचलित हो गए तथा लोग उन्हें दिन-प्रतिदिन के कार्य करते समय गाने लगे।

स्थानीय पराक्रमी-पुरुषों की वीर-गाथाएं लंबे लोक-गीतों में गूंथी गईं। ये कथाएं प्रत्येक जाति को प्रेरणा देती थीं। ये लंबे लोक-गीत देवी-देवताओं से भी संबंधित होते थे। कभी-कभी पराक्रमी पुरुषों व स्त्रियों की विशेष शक्तियों को इन गानों में चित्रित किया गया। यद्यपि ये कथाएं किसी विशेष स्थान पर केंद्रित होती थीं परंतु इनमें पराक्रमी पुरुषों और स्त्रियों के चरित्र का उल्लेख होता था, इसलिए यह समस्त देश में प्रचलित हो जाती थी। केरल के उत्तरी भाग में 'वडक्कन पाटुकल' नामक लंबे लोक गीत बहुत प्रचलित हैं। दक्षिणी भाग में 'तेक्कन पाटुकल' प्रचलित है जिनमें स्थानीय पराक्रमी-पुरुषों के पराक्रम का विवरण है। मध्य केरल के कुछ लोक-गीत महाभारत आदि की कहानियों पर आधारित हैं जिनपर ग्रामीण जनता की रचनात्मक क्षमता का प्रभाव है। इस प्रदेश के पुलया के गानों में स्थानीय नायक के पराक्रम का विवरण है जिसे 'इडनाडन पाटुकल' कहते हैं। दक्षिणी-भाग के गाने विल्लडिपाट में भी गाए जाते हैं। गानों के साथ एक ग्रामीण वाद्य बजाया जाता है जो कमान से मिलता-जुलता है जिसके पीछे गायक बैठते हैं। वाद्य को छोटी-छोटी घंटियों से सजाया जाता है जिनसे, वाद्य की डोरी को बजाने पर सुमधुर संगीत निकलता है। कुछ गायक धातु के बने हुए वाद्य पर गाते हैं। पांच या सात गायक मिलकर गान गाते हैं। इन जीवंत गानों में कथा-रूप में वर्णन अधिक होता है तथा गायक अपनी भाव भंगिमा से उनको चित्रित करते हैं। मुख्य-गायक को पुलवार कहते हैं और वह धनुष के सीधी ओर बैठता है।

उत्तरी केरल के कुछ गीत इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे उस प्रदेश की विशेष सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। मालाबार के कुछ लोक-गीतों से पता चलता है कि वहां के भूपति किस प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। कुछ गानों में बुनकरों द्वारा बहुत मुलायम सिल्क बनाने का उल्लेख है। सारे वंडक्कन-पाट, कलारी (सैनिक कला) और पयट्ट (लड़ाई) से संबंधित हैं। इस प्रकार के गीत उत्तर केरल के दो परिवारों पुतुरं वीड तथा तचोलि तवीड की बड़ाई में गाए गए हैं। इनमें से पहला परिवार तिय्या और दूसरा नायर जाति का है। ये दोनों जातियां हिंदुओं की उपजातियां हैं। इनमें से एक लोकगीत में अरोमल चेवकर की कहानी इस प्रकार गाई गई हैं—

"हमारे श्रेष्ठ चाचाओं ने,
पुरातन काल में,
अपना समय

सैनिक-अभियान में बिताया
उस समय से
अब तक
तीन सौ साठ वर्ष बीत चुके हैं...

केरल के इन लोक-गीतों से, जो सोलहवीं शताब्दी[2] के हैं, यह पता चलता है कि उस समय प्रत्येक युवक के लिए सैनिक-शिक्षा अनिवार्य थी। 'पुतुरम विड' वाडाक्कान-पाट्टकल' के दो महत्वपूर्ण परिवारों में से एक था। इस परिवार में अरमोल चेवकर, उसकी बहन उन्नी अर्चा और उसके पुत्र अरोमुनि जैसे वीर चरित्र हुए। अरोमल चेवकर की मृत्यु बाईस वर्ष की अल्पायु में हो गई। 'पुत्तरिकाम' की लड़ाई में विजय प्राप्त करने के बाद, जो अरिडगोडर के विरुद्ध लड़ी गई थी। वे अपने चचेरे भाई चंदू की गोद में सिर रखकर आराम कर रहे थे। उनका विचार था कि चंदू उनका प्रिय मित्र है। परंतु चंदू के मन में अरोमल के विरुद्ध गहरी वैमनस्य की भावना थी, क्योंकि उसे उन्नीअर्चा से विवाह का अधिकार नहीं दिया गया था। चंदू ने एक खलनायक की भांति इस मौके का फायदा उठाया और अरोमल की हत्या कर दी और अपना बदला ले लिया। लोक-गीत में अरोमल द्वारा लड़ी गई 'पुट्टारिकाम' की लड़ाई का विवरण है।

वहां से अरोमल उठा
एक छोटी मेज को उठाया
उसपर कपड़ा बिछाया
उसपर सफेद चावल से भरी प्लेट रखी
उसपर नारियल रखा
उसपर एक सुपारी रखी
सुपारी पर एक अंडा रखा
जिसमें एक सूई घुसा दी
सुई की नोक पर
लगा दी, एक छोटी तेज़ धार की चुरिका[3]
अरोमल ने तलवार की धार पर
कलाबाजी कर दी
और उसकी तेज़-धार पर
आश्चर्य-जनक नृत्य किया...

---

2. महाकवि उल्लूर एस.परमेश्वर अय्यर 'केरल साहित्य चरित्रम' में तकोली ओटेना कुरुप की जन्म तिथि 759 मलयालम वर्ष देते हैं जो सन् 1574 में पड़ता है।

3. तीक्ष्ण धार की द्विधारी तलवार

इस लोक-गीत से पता चलता है कि उस समय के वीर योद्धाओं ने कैसी सैनिक-निपुणता प्राप्त कर ली थी।

इस प्रकार की बहुत-सी लोक-कथाओं में, उन्नीअर्चा की वीरता और सैनिक दक्षता का विवरण है। उन्नीअर्चा, अरोमल की बहन थी। एक बार 'अल्लिमलरकावु' के मेले में, वे अपने पति कुंजुरमण के साथ जा रही थी। वहां पर कुछ बुरे लोगों ने उनपर आक्रमण कर दिया। उन्नीअर्चा को उनसे अकेले लड़ाई लड़नी पड़ी। उसका पति डर से कांप रहा था। परंतु असाधारण वीरता के साथ उन्नीअर्चा ने उन्हें ललकारा, और अठारह लोगों से अकेले लड़ाई लड़ी। एक दूसरे गीत में उन्नीअर्चा अपने बेटे अरोमुनि को उपदेश देती है कि सदैव परिवार की गरिमा को ऊपर रखो और अपने शत्रु से सीना तानकर सामने से लड़ो। जो भी घाव लगें वह कभी पीठ पर नहीं लगाना चाहिए। यह सलाह बहादुर मां ने उस समय दी जब अरोमुनि अपने मामा अरोमल चेवकर के हत्यारे चंदू से लड़ने जा रहा था।

तचोली ओतेना कुरुप नायर जाति के थे। उनकी सैनिक-दक्षता का विवरण बहुत से लोक गीतों में है। वे एक ऐसे नायक थे जो कभी किसी गलत काम से समझौता नहीं करते थे। वे सदैव अच्छे और ज़रूरतमंद लोगों की सहायता करते थे। कटिरुर गुरुकल उनके सबसे बड़े शत्रु थे और उनसे ही लड़ाई में वे वीरगति को प्राप्त हुए। शत्रु से अंतिम लड़ाई से पहले बहुत अपशकुन हुए। मंदिर के पुजारी में देवी ने प्रवेश किया और ओतेना से लड़ाई में जाने के लिए मना किया, पर ओतेना ने पुजारी की बात नहीं सुनी। जो ताबीज़ उन्होंने पहन रखी थी वह उनकी एक पत्नी ने चुरा ली। यह भी अपशकुन था। वास्तव में वे अपने शत्रुओं को पराजित करने में सदैव समर्थ थे। रण क्षेत्र से वापस आने पर उन्होंने देखा कि उनकी कटार उनके पास नहीं है। वे कटार वापस लाना चाहते थे। उनके मित्रों ने उन्हें ऐसा करने से रोका, परंतु उन्होंने उत्तर दिया—

लोग इस बात पर हंसेंगे
कि एक महत्वपूर्ण नायर ने,
रण-क्षेत्र में आकर,
अपनी कटार पीछे छोड़ दी
वे नहीं रुकेंगे
चाहे मित्र कुछ भी कहें,
चाहे रास्ते में हाथी ही क्यूं न खड़ा हो जाए।

वे रण-क्षेत्र में वापस चले गए। वहां उनके शत्रुओं ने उन्हें मार डाला। एक लोक-गीत में द्वंद्व युद्ध का विवरण है।

ओतेना, लोकनार कावु की ओर बढ़ा
साथ में था ओडयोट्टीटत्तिल कांडासेरी (चेपन)

ओडयोट्टिटत्तिल कांडासेरी
ने नारियल के पेड़ का बना
हुआ भाला हाथ में लिया
दोनों साथ-साथ आगे बढ़े
दोनों ने पूरी दूरी एक बार में तय कर ली[4]

वे मंदिर पहुंचे, जो चारों ओर से आदमियों से घिरा हुआ था। वहां एक हजार नायर और वहां के स्थानीय राजा एकत्र थे। ओतेना ने बरगद के वृक्ष के नीचे चबूतरे पर स्थान ग्रहण किया। मनिलूर कुरुक्कल अपने बाईस शिष्यों के साथ वहां आए और देवी की पूजा करने के बाद चबूतरे के दूसरी ओर बैठ गए, जिसपर ओतेना बैठे हुए थे। मेपयिल तचोली कुन्ही ओतेना ने कहा—

बहुत ईष्यालु ओतेना,
तुम कैसे नायर हो
जो बरगद के नीचे बैठे हो ?
ओतेना ने यह अपनी आंखों से देखा
गुस्से से भरी गहरी काली आंखों को घुमाया
पैरों को उत्तेजना से हिलाया...
कुरुक्कल ने जोर से चिल्लाकर ललकारा
मेरे अच्छे, तचोली कुन्ही ओतेना
यदि दसवां ग्यारहवां कुंभ आया
यदि मैं जीवित रहा
मैं पोन्नियत आने की शपथ लेता हूं
वहां बरगद के पेड़ के नीचे
हम अपनी श्रेष्ठता का निर्णय
द्वंद्व युद्ध में करेंगे,
उस दिन हम फिर मिलेंगे

लोक-कवि आगे विवरण देता है—तचोली कोमा कुरुप (ओतेना का बड़ा भाई) के कान में जैसे ही यह बात पड़ी उसने अपनी छाती ठोकी और आंसू भरकर कहा—

अफसोस ! ढीठ मनुष्य
तुम एक पर्वत पर मिट्टी का बर्तन फेंक रहे हो
बृहस्पति के दिन, अगले कुंभ को
तुमने द्वंद्व-युद्ध का निश्चय किया...

---

4. मालाबार, डब्ल्यू.लोगन, खंड-1. पृ.-96 से अंग्रेजी में अनूदित

परिस्थिति नाटकीय ढंग से आगे बढ़ती है। मल्ल-युद्ध का दिन निकट आ रहा था।

कुन्ही ओतेना ने स्नान किया, खाना खाया
अगले दिन वह लोकनरकवु के पास गया
पुजारी से मंदिर खोलने को कहा
देवी के सम्मुख सब ओर दीपक जलाने को कहा
गायकों से बजाने को कहा—बाम-टाम
खजाने के डिब्बे को बाहर निकाला
तथा देवी-प्रतिमा के साथ जुलूस आगे बढ़ा
ऐसे समय में
एक नम्बूदरी युवक को दैविक प्रेरणा मिली
और उसने भविष्यवाणी की कि
इस वर्ष तुम पोन्नियत नहीं जाओगे
तुम पर बुरे नक्षत्रों का प्रभाव है,
मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता

ओतेना के भाई कोमा कुरुप आदि ने उन्हें पोन्नियत जाने से मना किया। ओतेना पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

ओतेना ने कांडासेरी से कहा—हमें चलना चाहिए ! काविल चात्तोत के घर वे लोग गए। अपनी पत्नी चिरु को देखा जिसने अपने बच्चे अंवाडि को गोद में ले रखा था अपने पति की ओर देख कर पत्नी ने रोकर कहा—

मेरे प्रिय, प्राणनाथ,
तुम मल्ल-युद्ध लड़ने जा रहे हो
पेन्नियत में बरगद के पेड़ के नीचे
तुम हमें किसके भरोसे छोड़ रहे हो
प्रिय चिरु ! ओतेना ने उत्तर में कहा
क्या मेरी मृत्यु होगी ?
क्या मनुष्य मनुष्य के बराबर नहीं है ?

क्वीलोन के दक्षिण के लोकगीतों, तेक्कन-पटुकल की अपनी विशेषताएं हैं तथा तमिल भाषा के बहुत निकट हैं। दक्षिण के लोक-गीतों में कुछ गीत विल्लू (धनुष और मिट्टी के बर्तन) के साथ गाए जाते हैं। इन गानों की तीन विशेषताएं हैं। कुछ गाने पापात्माओं को प्रसन्न करने के लिए गाए जाते हैं जो मनुष्य के शरीर में घुसकर उन्हें परेशान करती हैं, कुछ पौराणिक-कथाओं और उनके नायकों के विषय में होते हैं और कुछ गीत देवताओं की स्तुति में गाए जाते हैं। पापात्माओं का गुण-गान करके उन्हें वश में किया जाता है, ये गाने कुछ विशेष गायक गाते

थे। जिन्हें 'पुलवर' कहते थे। ये गाने वे अपने दादा-परदादा से सीखते थे और पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते थे। परंतु कुछ लोगों ने सामायिक-घटनाओं पर भी गीत लिखे। यद्यपि ये लोग न तो सिद्धस्त कवि थे न संगीतज्ञ। कुछ गीत विपट्ट पद्धति के हैं इनका चरित्र पारंपरिक है। विपाट्ट पद्धति के कुछ गानों से पहले 'पुत्तन' या नवीन लगा होता है। 'कण्णाडियन पाट' परंपरागत 'विलपाट' है। यह पंडयान-राजा कुलशेखर की कहानी पर आधारित है जो तेरहवीं शताब्दी में रहते थे। कांचीपुरम के राजा कण्णाडियन की सुंदर-पुत्री ने पंडयन् राजा का चित्र देखा और उसपर मुग्ध हो गई। लड़की के पिता ने कुलशेखरम् से अपनी लड़की से विवाह करने के लिए कहा। लड़की की जाति नीची थी इसलिए कुलशेखरम् ने विवाह करने से मना कर दिया। कण्णडियन ने बहुत अपमानित अनुभव किया और शपथ ली कि अपनी लड़की का विवाह कुलशेखरम् से ही करेंगे। वे बड़ी सेना लेकर कुलशेखरम् से लड़ने निकले और वल्लियूर के किले को घेर लिया। कुलशेखरम् बहादुरी से लड़े। परंतु उनकी हार हुई और बंदी बना लिया गया। लेकिन कुलशेखरम् ने आत्महत्या कर ली और विजयी राजा को केवल उनका शरीर मिला। कण्णाडियन की सुंदर पुत्री अपने प्रेमी कुलशेखरम् के शरीर के साथ सती हो गई। यह गाना गायकों के संगीत के बड़े सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है, विशेष रूप से उस समय जब सेना युद्ध के लिए आगे बढ़ती है।

'विलपाट' की एक कथा को तक्कराजन-कथा कहते हैं। यह दक्षिण त्रावणकोर के मदन्-मंदिर में गाई जाती है। यह विश्व के सृजनकर्ता ब्रह्मा के पुत्र दक्ष से संबंधित है। शिव और उनकी पत्नी पार्वती संसार में भ्रमण कर रहे थे। दक्ष और उनकी पत्नी वेदावल्लि बहुत दुःखी थे। क्योंकि उनकी कोई सखि नहीं थी। उन्होंने कठिन साधना की। शिव प्रसन्न नहीं हुए। परंतु पार्वती ने उन्हें मनाने का प्रयास किया। तब पार्वती ने स्वयं दक्ष और वेरावल्लि की पुत्री बनकर जन्म लेने का निर्णय लिया। वह नदी में संदूक में बहती हुई मिली। बारह वर्ष की आयु तक वह दक्ष के पास रहीं। शिवजी ने दक्ष के पास उनकी पुत्री से विवाह करने के लिए संदेशा भेजा। दक्ष ने विवाह करने से इंकार किया परंतु अपनी पुत्री के कहने पर वे मान गए। दक्ष ने एक यज्ञ किया जिसमें अपने दामाद शिवजी को नहीं बुलाया। पार्वती यज्ञ में आई परंतु उनका अपमान किया गया। शिवजी क्रोधित हो उठे। उनके तीसरे नेत्र से वीरभद्र उत्पन्न हुए जिन्होंने दक्ष का सिर काट दिया। बाद में दक्ष के सिर पर बकरे का सिर लगा दिया गया तथा उन्हें चुटल-माडन कहा गया। इस कथा पर आधारित गाने में तीन हजार से अधिक पंक्तियां हैं। इसमें गाने में दक्ष की पापात्मा द्वारा किए गए दुष्कर्मों का भी विवरण है। यह कहानी इसी भांति पुराणों में भी मिलती है पर यहां यह सीधी सादी ग्रामीण भाषा में गाई गई है। इस लोक-गीत का स्थानीय महत्व बढ़ गया। क्योंकि यह धार्मिक-उत्सवों

पर गाया जाने लगा।

पहले समय में एक विचित्र प्रथा प्रचलित थी। दुष्टात्माओं को , शत्रुओं के विनाश के लिए, उनके पास भेजा जाता था। 'मूवोट्टु मलान कथा' विपाट्टु शैली में गाई गई है जिसमें चाचा और भतीजों की लड़ाई का वर्णन है। गाने में बताया गया है कि भतीजों को मूवोट्टु-मलान आत्मा की सहायता प्राप्त थी जिसके द्वारा उन्होंने अपने चाचाओं की हत्या करवा दी। पंचवनकाट्टु-निली की कहानी दूसरा दिलचस्प विलपाट्टु है तथा दक्षिणी केरल में बहुत प्रचलित है। यह एक देवदासी की कथा है जो एक मंदिर से संबंधित थी। मंदिर के पुजारी को देवदासी से प्रेम हो गया। देवदासी की मां ने खाने में एक प्रकार का विचित्र जहर मिला दिया तथा नाम्बी को खिला दिया। नाम्बी अपना सारा धन देवदासी और उसकी मां पर खर्च करने लगा। देवदासी गर्भवती हो गई। नाम्बी का सब धन समाप्त हो गया। उसकी सास ने उसे घर से निकाल दिया। जब देवदासी को पता चला तो वह अपने पति को ढूंढने निकली। दोनों रास्ते में मिले और कल्लियनकाडु नामक स्थान पर मिले। जब देवदासी सो रही थी तो नाम्बी ने उसे मार डाला और सारे जेवर चुराकर ले गया। हत्यारे को तुरंत अपने किए का परिणाम भुगतना पड़ा। वह कुएं से पानी भर रहा था। एक सांप ने उसे काट लिया। उसकी तुरंत मृत्यु हो गई और जेवर कुंए में गिर पड़े। अगले जन्म में नाम्बी ने चोला राज्य में जन्म लिया। अब उसका नाम आनंदन् था। देवदासी निली नाम की दुरात्मा के रूप में उत्पन्न हुई और उसने आनंदन् की हत्या कर दी। चवनकाडु नामक स्थान पर नाम्बी ने देवदासी की हत्या की थी। यह स्थान दक्षिण त्रावनकोर में 'अगस्तीश्वरम्' ताल्लुक में है। यहां पर एक मंदिर है जहां निली की दुष्टात्मा का निवास है।

दक्षिण केरल के लोक गीतों में तेक्कन पट्टुकल उलाकुत पेरुमल पट्टु, जिसे तम्पुरन पट्ट भी कहते हैं, वहां के मौखिक साहित्य का विशेष अंग है। यह गीत अपनी संगीत तन्मयता और कवित्वमयता के लिए प्रसिद्ध है। ये गाने उरूटंबलम नामक मंदिरों के वार्षिक उत्सव पर कुंभ के महीने में गाए जाते हैं। मंदिर के देवता का नाम उलकुटा पेरुमल या तम्पुरन है। मंदिर के उत्सव पर पट्टु अथवा गाने गाए जाते हैं जिसमें तम्पुरन के जीवन का विवरण है तथा इसका अंत पटयानी अथवा पटपुरप्पाड से होता है जिनमें उन युद्धों का विवरण होता है जो युद्धनायक ने लड़े थे। इस विषय पर समस्त गाने लगभग अट्ठाईस घंटों में गाए जाते हैं। ये गीत कई दिनों में गाए जाते हैं तथा नायक के जीवन की सब महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करते हैं। ये लोकगीत जिस वाद्य पर गाए जाते हैं उसे 'वदुनी' कहते हैं। यह दो तारों का वाद्य है जिससे लय भी निकलती है और बाजे की निचली नली का भी काम होता है। दूसरे 'तेक्कम पट्टुकल' गानों की भांति ये गाने भी तमिल के बहुत निकट हैं। सब पुरानी कथाओं की भांति ये गीत भी युद्ध और बदला लेने के विषय

पर केंद्रित हैं। वैकाकारा के पांच राजा पांड्या राजा से संबंधित थे पांचों राजाओं को पांडया राजा ने मार डाला। उनकी एक छोटी बहन थी जिसका नाम मलयम्मा था तथा उसका विवाह तंबू पेरुमल से हुआ था।

देवी की कृपा से उसके एक बच्चा हुआ। इस लोक-कथा का नायक यही बच्चा है। इस बच्चे को बहुत छोटी आयु से युद्ध की शिक्षा मिली। सोलह वर्ष की आयु में वह वैकाकारा का राजा बना। उसके जीवन का ध्येय अपने मामाओं की मृत्यु का बदला लेना था। समस्त प्रजा उसे प्यार करती थी। उसे मां काली का आशीर्वाद प्राप्त था जिनकी पूजा-अर्चना उसने अपनी मां के कहने पर की थी। उसने पांड्या राजा से युद्ध किया और उनके छः भाइयों को मार दिया। हारे हुए पांड्या राजा ने फिर शक्ति बटोर कर पेरुमल से दुबारा युद्ध किया। देवी से आशीर्वाद स्वरूप मिली पेरुमल की तलवार लड़ाई में टूट गई। देवी ने उसे पहले ही चेतावनी दे दी थी कि कोई अपशकुन होने पर वह युद्ध न लड़े। उसने युद्ध बंद कर दिया। परंतु वह यह अपमान सह नहीं सका और उसने अपने तैंतीसवें जन्मदिन पर आत्महत्या कर ली। नायक की मां मलयम्मा ने भी अंत में आत्महत्या कर ली। बहादुर नायक से संबंधित यह गीत इस प्रकार कई हिस्सों में बंटा हुआ है—मलयम्मा का राजकीय वैभव से विवाह, उसके यौवन-प्राप्ति से संबंधित विधि-विधान, उसके द्वारा देवी वैका की पूजा, बच्चे की प्राप्ति, बच्चे का युद्ध तथा अन्य विषयों में शिक्षा, समुद्र में नायक की लड़ाई, नायक का राज-तिलक, देवी से पवित्र तलवार उसे कैसे मिली, युद्ध की तैयारी, वेका नदी पर बांध का निर्माण, अंत में युद्ध के दृश्य।

मलयालम् में रामायण साहित्य 'रामचरित्रम्' से आरंभ होता है। यह कथा द्रविड़यन छंद से लिखी गई है। लोगों में ऐसा विश्वास है कि यह कथा 13वीं सदी में लिखी गई। इसके लेखक का नाम चिराम् कवि 'श्रीराम' है जिनका कथा में स्थान-स्थान पर उल्लेख है। पाट्टकथा साहित्य में रामकथा पाट्टु का बहुत महत्व है। अच्चिपिल्ला आशान और उसके भाई अय्यिपिल्ला आशान का नाम जुड़ा हुआ है। इस कथा के द्वारा उन्होंने पाट्ट-साहित्य में बहुत समृद्धि की। अय्यिपिल्ला आशान राम-कथा के लेखक थे तथा त्रिवेंद्रम के पास कोवलन्न के रहने वाले थे। मलयालम में 'राम-कथा' रामायण पर पहला कार्य है और इसे चंद्रा वलयम् नामक वाद्य के साथ गाया जाता है। आधुनिक मलयालम भाषा का जन्म बारहवीं शताब्दी में हुआ। इस भाषा के जन्म से पहले केरल के लोग तमिल और संस्कृत भाषा सीखते थे और इन दोनों भाषाओं से मलयालम भाषा का जन्म हुआ। साहित्य के उद्गम में 'पाट्टु' और 'मणिप्रवाल' का स्पष्ट स्थान है।

'पाट्टु' रचयिता की भावनाओं का स्वच्छंद उद्रेक है तथा इन रचनाओं में छंद की गूढ़ता पर ध्यान नहीं दिया जाता। मौखिक साहित्य की महान् परंपरा को

अक्षुण्ण रखते हुए यह साहित्य तमिल भाषा के निकट है तथा द्रविड़यन वातावरण की रचना करता है। रामचरित्रम्, कण्णश रामायणम् और रामकथा रामायण के ऊपर महान् कार्य हैं। ये सब कथाएं आधुनिक मलयालम के पिता एजुथच्चन से पहिले लिखी गईं। एजुथच्चन 16वीं शताब्दी में हुए थे। 'रामकथा' तेरहवीं शताब्दी के आस-पास लिखी गई। इस कार्य के आरंभ के बारे में भी एक कथा प्रचलित है। इस प्रकार की कहानियां मौखिक साहित्य का महत्वपूर्ण हिस्सा है। एक कथा अय्यिपिल्ला आशान को अकस्मात कवित्व क्षमता मिलने से संबंधित है। कोवलाम समुद्र के उत्तर-पश्चिम में वंचियरा खेतों में केले के फल की बगीची है जिसपर दक्षिण के धर में रहने वाले लोगों का आधिपत्य था। अय्यिनपिल्ला आशान और उनके छोटे भाई अय्यिनपिल्ला आशान इस बगीची की रक्षा करते थे। एक दिन अय्यिपिल्ला सोते-सोते जाग गए और सात मील तक पैदल चलकर गए। तब उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति मुंडकात पहाड़ियों से उतरकर आ रहा है। अय्यिनपिल्ला उसके पैरों में गिर गए और उसके पीछे-पीछे चलने लगे। तिरुवलम् जाने के लिए उन्हें नदी को पार करना था। नदी पर कोई पुल नहीं था। उस श्रद्धा-योग्य व्यक्ति ने पीपल के पेड़ के पत्ते पर सारी नदी पार कर ली। अय्यिपिल्ला यह देखकर स्तंभित रह गए। उन्होंने आश्चर्य से देखा कि पीपल का पत्ता उनकी ओर वापस आ रहा था। अय्यिपिल्ला ने भी पीपल के पत्ते पर नदी पार कर ली और उस महान् व्यक्ति के पीछे चलते रहे। वे दोनों श्री पद्मनाभ भगवान के मंदिर में पहुंचे। दोनों ने मंदिर में पूजा की। अय्यिपिल्ला स्वामी के पीछे-पीछे चलते रहे। तिरुवलम् नदी को पारकर वे सात मील पैदल चले। स्वामी ने अय्यिपिल्ला को तीन केले दिए और अचानक गायब हो गए। स्वामी और कोई नहीं, अश्वत्थामा थे।

अय्यिपिल्ला ने तीनों केले खा लिए जिसके कारण उन्हें देवी सरस्वती ने आशीर्वाद दिया। वे प्रेरणा से भरकर गाने लगे और केले की बगीची में पहुंचे। वहां उनके छोटे भाई ने पूछा कि उन्हें गाने की प्रेरणा कैसे मिली। अय्यिपिल्ला ने भाई को सारी कहानी सुना दी। उन्होंने यह भी बताया कि उन्होंने केले के छिलके वहीं फेंक दिए हैं। छोटा भाई दौड़ा-दौड़ा गया और उसने केले के छिलके खा लिए। वह भी कवित्व-रचना की क्षमता से भर उठा। दोनों भाइयों ने तालियां बजा-बजा कर राम-कथा को केले की बगीची में गाया।[5] इस कथा से पता चलता है कि ग्रामीण लोगों का विश्वास है कि रामकथा की प्रेरणा ईश्वर प्रदत्त है।

चौदहवीं शताब्दी में तीन महान कवियों ने पट्टु साहित्य को समृद्ध किया। ये कवि निरनाम कवि कहलाए। इनके नाम थे माधव पणीकर, भगवत गीता के रचयिता, शंकर पणीकर जिन्होंने भारतमाला लिखी तथा तीसरे राम पणीकर जिन्होंने

5. रामकथप्पाट्टु, डॉ.पी.के.नारायण पिल्यै की भूमिका से

रामायण की रचना की। ये लोग निरनाम के रहने वाले थे जिसे महोदयपुरम् भी कहते हैं। किसी समय इस स्थान का सांस्कृतिक और धार्मिक महत्व था। कपिलेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर के पास एक स्थान है जिसे कण्णशानपरंबु कहते हैं, यही स्थान इन कवियों की जन्मस्थली है। राम पणीकर को कण्णशान भी कहते थे। इसलिए उनकी लिखी रामायण को कण्णशा-रामायण कहते हैं। तीनों कवियों ने द्रविड़यन छंद में ही इस साहित्य की रचना की। इन कवियों ने रामचरित्रम् की भांति पुरानी मलयालम भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। परंतु रामचरितम् से, इनके कार्य में, संस्कृत का प्रभाव अधिक है। इन कविताओं का 'मुट्टमिल' की ओर रुझान है तथा इनका कवित्व, संगीत और छंद इन्हें विशेष रूप से आकर्षक बना देता है।

समय के साथ इस साहित्य में परिवर्तन आया तथा तत्सम् में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा। परंतु इनकी भाषा और छंद का चरित्र वही पहले वाला था। इन तीनों कवियों के कार्य जिसे निरनाम कविकाल कहते हैं, इस प्रकार के साहित्य की प्रगति का प्रतीक है। इन कविताओं के छंद से पता चलता है कि इनका प्रयोजन गाने के लिए था।

केरल के इतिहास के प्रारंभिक काल से, संस्कृत-सहित्य का, इस प्रदेश की संस्कृति के निर्माण में गहरा हाथ रहा है। इस काल में केरल में बहुत से संस्कृत कवि और नाटककार हुए। आदि शंकराचार्य का महान्-ग्रंथ 'सौंदर्य-लहरी' 'विवेक-चूड़ामणि' आदि इस महान् परंपरा के प्रतीक हैं। शक्ति भद्र की 'आचार्य चूड़ामणि' रामायण की कथा की मौलिकता के साथ वर्णित करती है। नाटक विधा में इसका महत्व जगजाहिर है। नीलकंध कवि द्वारा लिखा हुआ कलयाण सौगंधकम्, केरल के रचनात्मक नाटक-साहित्य का प्रतीक है। तप्ति संवरणा, सुभद्रा धनंजयम् विचनाभिषेकम् कुलशेखरन् द्वारा रचित है और समृद्ध परंपरा का प्रतीक है। केरल की नाट्यशालाओं में ये नाटक तथा भाषा और हर्ष आदि के लिखे हुए नाटक लगातार खेले जाते थे। ये नाटक नाट्य-शास्त्र परंपरा पर आधारित थे परंतु इन पर लोक-नाटक का भी प्रभाव था। इनके द्वारा केरल की विख्यात नाट्य-शैली, कुडियट्टम् का आरंभ हुआ।

संस्कृत के नाटकों के विदूषक का कुडियट्टम् नाटकों में बहुत विकास हुआ। साधारण लोगों को वे नाटक के ध्येय के विषय में सूचित करते थे विदूषक तमिल भाषा का प्रयोग करते थे। जन-भाषा यही थी। धीरे-धीरे विदूषक संस्कृत की वे पंक्तियां भी बोलने लगे जो पहले नायक बोलता था। संस्कृत तथा मलयालम की मिली-जुली भाषा को 'मणिप्रवाल' कहते हैं और बहुत से विद्वानों का मत है कि इन श्लोकों से 'मणिप्रवाल' कविता का प्रारंभ हुआ जो ग्यारहवीं से पंद्रहवी सदी तक मलयालम साहित्य का विशेष अंग थी। 'मणिप्रवाल' प्रकार की कविता

परंपरागत संस्कृत साहित्य से प्रभावित है, परंतु इस प्रकार की कविता में केरल लोक-साहित्य का भी समावेश है जिसका प्रतीक कुडियट्टम नाटक में विदूषक था।

विदूषकों के द्वारा बोले गए बहुत से श्लोकों के रचयिता तोलन हैं। वे राजकीय नाटककार कुलशेखर के राज-कवि थे। तोलन और कुलशेखरन इन दो कवियों ने 'कुडियट्टम' का आधुनिक रूप में विकास किया तथा इनमें मूल-ग्रंथों में अलग तत्वों को जोड़ा। बहुत से तत्व जैसे विदूषक के द्वारा दिए गए मौखिक विस्तृत व्याख्यान कहानी कहने की एक और विधा, 'पाठक' से संबंधित थी। यह विधा नम्बीयार जाति (चकयार और कुडियट्टम से संबंधित) और चकयार के प्रबंधकुतु में प्रचलित थी। इन दोनों प्रकार की साहित्यक-विधाओं में एक व्यक्ति पुराणों से ली हुई कहानियों को, जनसाधारण के सम्मुख, विस्तृत रूप से समझाता था। कहानियों का संबंध दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से जोड़ा जाता था। कुछ विद्वानों का मत है कि चंपू-काव्य, मणिप्रवाल में, चकयार के प्रबंधकुतु के लिए लिखे गए। केरल की परंपरागत प्रथा के अनुसार वहां का साहित्य नाटकों से संबंधित है। यह परंपरा बाद के समय में भी दिखाई देती है। इसके उदाहरण 'कथाकली' और 'थुल्लाल' हैं।

उपर्युक्त कहानी का प्रभाव 'मणिप्रवाल' में लिखे गए चंपूकाव्य की रचना शैली और विषय सूची पर देखा जा सकता है। चंपू-काव्य संस्कृत चंपू के आधार पर लिखे गए। संस्कृत के चंपू की भांति 'मणिप्रवाल चंपू' में पद्य भी है और गद्य भी। मणिप्रवाल-चंपुओं का गद्य मलयालम के लोकगीतों से मिलता-जुलता था। इनको 'थोट्टम पाट्टु' और पटयानी गानों की तरह गाया जा सकता था। चेरुशेरि नंबूदरी के कृश्नगढ़ ने भी मलयालम साहित्य के विकास में सहयोग दिया। उनके कार्यों में लोक-साहित्य और उच्च कोटि की साहित्यक रचनाओं का समन्वय है। उन्होंने महाभारत के दसवें पर्व में भगवान कृष्ण के विषय में कही हुई कहानी का वर्णन किया है। उन्होंने लिखने के शास्त्रीय ढंग का मिश्रण लोक गीतों के छंद से किया है।

उनकी भाषा सरल और जन-साधारण को अच्छी लगती है। पून्तानम नम्बूदरी कृष्ण भगवान के सच्चे भक्त थे। उन्होंने पुरातन लोक-गीतों को उच्चता के शिखर पर पहुंचा दिया। उनके छोटे-छोटे गीत उनकी प्रिय देवी गुरुवायुप्पन को समर्पित है। उनकी लंबी कविता 'जननअप्पन' से पता चलता है कि लोक-कविता कितनी सुंदर हो सकती है। अपनी भाषा में उन्होंने शास्त्रीय-साहित्य की परंपरा को अपनाया है।

एजुत्तचन को आधुनिक मलयालम-साहित्य का पिता माना जाता है। उनके कार्यों में भी लोक-साहित्य और शास्त्रीय-साहित्य का सम्मिश्रण है। उनके कार्यों से मलयालम साहित्य की अपनी पहचान बन गई जो अब तक चल रही है। उनके दो महत्वपूर्ण कार्य हैं– अध्यात्म रामायण और महाभारत। इन कार्यों का विषय

संस्कृत की रचनाओं से लिया गया है। परंतु ये गीत भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। ये कार्य, विशेष रूप से रामायण, केरल के परंपरागत लोकगीतों के समान हैं जिनमें किसी कथा का विवरण होता था तथा जो गाए जाते थे। उनकी कविताओं के भक्ति-भाव और दर्शन ने उन्हें एक पृथक श्रेणी में खड़ा कर दिया है। भक्ति-भाव से लिखी हुई पंक्तियां केरल के ग्रामों में गाए जाने वाले गीतों की याद दिलाती हैं। इस विशेषता के कारण उनकी रामायण ने मलयाली लोगों का हृदय जीत लिया तथा यह रामायण घर-घर में रखी जाने लगी। मलयालम के कार्तिक महीने में, जो मलयालम वर्ष का सबसे अंधकारमय महीना है, केरल के लोग चाहे वह किसी भी सामाजिक-वर्ग के हों, धातु के बने दीपक के सम्मुख सूरज डूबने के बाद, रामायण पढ़ते हैं। निम्नलिखित पंक्तियां पाट्टु-साहित्य के रामचरित्रम् से हैं। इन पंक्तियों से महान् साहित्यक परंपरा का पता चलता है–

कितना कठिन है मेरे लिए लिखना
किस प्रकार वायु पुत्र ने एक रात्रि के लिए, दुःख का आलिंगन किया
मैथिली को ढूंढ़ते हुए, जिसकी आंखें बड़ी हैं
तरंगायित समुद्र को पूर्ण कौशल से पार किया
सब बंदर अलग-अलग दिशाओं में गए
अपने राजा के आदेश पर जो मित्र बन गए थे
राम के, जब वे उस राह पर घूम रहे थे
जिस राह पर वर्षा आने से पहले
मुख्य राक्षस सीता को लेकर गायब हो गया था[6]

निम्नलिखित पंक्तियां चेरूशेरी की कृष्ण गाथा से हैं जो बोल-चाल की मलयालम भाषा की मधुरता और लोक छंद के सरल प्रवाह के लिए प्रसिद्ध हैं–

उसने वह स्थान दूर से देखा
पास गई और शरमाकर चुपके से देखा
जैसे सर्प चोरी-चोरी जाता है
चिड़ियों के राजा के बैठने के स्थान के पास
वह एक क्षण वहां खड़ी रही
सुंदर प्यारे चेहरे को देखती रही
जैसे वह अशांत होकर प्रतीक्षा कर रही हो
मृत्यु के दूत की, जो अब तक नहीं आया
वह पास गई और स्पर्श किया
फूल से कोमल शरीर को, जो कोमल पत्ती से भी कोमल था

---

6. डॉ. अय्यप्पा पनीक्कर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवादिका द्वारा अनूदित

जैसे कोई अग्नि को
आभूषण समझकर छू ले
तब उसने प्यारे बच्चे को उठा लिया
जैसे कोई सांप को रस्सी समझ कर उठा लें[7]

पूंतनम् के जनप्पना की कविताएं अपनी सरलता तथा प्रादेशिकता के लिए प्रसिद्ध है। नीचे कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं–

क्या भगवान का नाम दुर्लभ हो गया ?
या नरक का डर कम हो गया है ?
क्या जिह्वा के प्रयोग के बिना जीवन है ?
क्या हम क्षणभंगुरता से बच गए हैं ?
दुःख ! दुःख बिना सोचे-समझे
हम अपना जीवन व्यर्थ कर देते हैं
कितनी बार जन्म लेने के उपरांत
सौभाग्य से हम यहां आते हैं।
कितने जीवन पानी में बीत जाते हैं
कितने जीवन पेड़ों की भांति बीत जाते हैं
मनुष्य की योनि में जन्म लेने से पहले
कितने कठिन परिश्रम के बाद
हम मां के गर्भ में आते हैं
दस महीने गर्भ में बीत जाते हैं
दस-बारह वर्ष बचपन के निकल जाते हैं
और बाकी समय बिना अपने को पहचाने
हम आत्म केंद्रित व्यर्थ गुण-कीर्तन
में बिता देते हैं ?[8]

निम्नलिखित पंक्तियां कुंचन नांबयार लिखित कर्तव्यार्जुन विजयम् तुलाल से हैं–

समय-समय पर भेंट देनी चाहिए
उपज का आधा हिस्सा देना चाहिए
समस्त काली मिर्च की उपज देनी चाहिए
नारियल, सुपारी, आम, कटहल
के पेड़ राज्याधिकार में कर लेने चाहिए
मेरे देश में कोई स्थान नहीं है

---

7. डॉ. अय्यप्पा पनीक्कर द्वारा (अंग्रेजी में) अनूदित

8. डॉ. अय्यप्पा पनीक्कर द्वार अनूदित

स्थानीय ताल्लुकेदारों की शान-शौकत का।
मुझे दुहरी उपज देनी चाहिए
हर घर वाले को !
यहां जो भी तमिल ब्राह्मण हैं
उन्हें उठाने चाहिए जो उनके आदेश हो
नायर जो देशी शराब पीएंगे
उनकी पिटाई होगी, स ावधान !

इरायीम्मन ताम्पी को प्र ाद्धि लोरी श्री स्वाति तुरनल, महान राजकीय संगीत निर्देशक, के लिए उस समय लिखी गई थी जब वह छोटे बच्चे थे। इस कविता में कवि बच्चे को सुंदर सादृश्य दे देकर चित्रित करता है–

"यह प्यारा अर्ध-चंद्र
यह सुंदर खिला कमल
मधु जो फूलों में भरा है
यह पूर्णिमा के चांद की कोमलता !
यह नव-उत्पन्न मूंगे की टहनी
यह प्रेम पूर्वक खेलती हुई चिड़ियों का गाना
यह विशिष्ट गति से, नृत्य करता मोर
यह कोयल के गाने का सुरीलापन
यह उछल-कूद करते हिरण
यह चमकते सौंदर्य से भरपूर बतख
यह खजाना जो स्वयं ईश्वर ने दिया है
यह ज्ञान की देवी के हाथ में तोता
ये स्वर्गीय-पेड़ की कोमल टहनियां
यह मेरे प्रारब्ध के पेड़ का फल
ये स्वर्णिम-डिब्बे जिसमें रखे हैं
प्यारे जवाहरात
यह अमृत जिसे देख सकते हैं
यह दीपक जो अंधेरे में उजाला करता है ?
यह हवा का झोंका जिसमें फूलों की सुरभि है
यह विशुद्ध खरे सोने का आंतरिक हिस्सा
यह दूध जो उबलते-उबलते गाढ़ा हो गया है
यह सुगंधि से परिपूर्ण गुलाब-जल
यह खेत जहां देवी पकाती है
यह घर जहां सदाचार का वास है

यह जल जिससे प्यास बुझती है
यह छाया जिससे राही को विश्राम मिलता है
ये आंखों के लिए शुभ-लक्षण
यह जादू से भरा रत्न, जो मुझे प्राप्त हुआ है...[9]

यह लोरी अपनी सरलता और मधुर संगीत के कारण बहुत प्रचलित है। विश्व के साहित्य में भी इसका विशिष्ट स्थान है।
मूल-लोरी इस प्रकार है–

मूल-लोरी

ओमनातिंकल किटावो-नल्ला
कोमलातामाराप्पुवो
पुविल निरंज मधुवो-परि
पूर्णेन्दु तन्टे निलावो
पुत्तन पविज़क्कोटियो-चेरू
तत्तकल कोंचुम मोज़ियो
चान्चातियातुम मइलो-म्रुदु
पंचमम पाटुम कुइलो
तुल्लुमिलामन कितावो-शोभा
कोल्लुनोरन्नाकोटियो
ईश्वरन तन्ना निधियो-परा'
मेश्वरीएन्तुम किलियो
पारिजातत्तिन तलिरो-एन्टे
भाग्यद्रुमत्तिन फलमो
वात्सल्यरत्नत्ते वेप्पान-ममा
वेचोरु कंचनाचेप्पो
दृष्टिक्कु वेचोरम्रुतो-कुरि-
रुट्टट्टु वेचा विलक्को
पूमनामेट्टीरु कट्टो-एट्टम
पोन्निलकलर्नुला माटो
काचिकुरुक्किया पालो-नल्ला
गन्धमेजुम पनिनीरो

9. लेखक द्वारा अंग्रेजी में अनूदित

नन्मविलयुम निलमो-नल्ला
धर्मगल वाजुम ग्रुहमो
दाहम कलयुम जलमो-मार्ग-
खेदम कलयुम तणलो
कण्णिनु नल्ला कणियो-ममा
कैवन्ना चिन्तामणियो

लोकोक्तियां

ग्राम-संस्कृति लोकोक्तियों के द्वारा जीवंत हो उठती है। लोकोक्तियां लोगों को उत्तराधिकार के रूप में मिलती हैं। लोकोक्तियां दिन-प्रतिदिन के जीवन में प्रचलित हो जाती हैं तथा जन साधारण के विचारों को कविता के रूप में चित्रित करती हैं। एक छोटी-सी उक्ति के कई मतलब हो सकते हैं। नीचे कुछ लोकोक्तियां दी गई है—

आंतरिक-चक्षु, को खोलने के लिए
गुरु को बचपन में आना चाहिए

जो अंतर में उत्पन्न होता है
वह बिना किसी सहारे के खिलता है

जो शत्रु पास है
वह दूर के मित्र से अच्छा है

ढोल की पिटाई होती है
परंतु ढोल बजाने वाला पुरस्कृत होता है

स्वप्न में भोज
दर्पण में धन के समान है

पत्ता कांटे पर गिरे या कांटा पत्ते पर
बिंधता पत्ता ही है

ज्ञान से नम्रता आती है

चतुर व्यक्ति के हाथ में घास भी हथियार है

नांद को बदलने से बंध्या गाय के बछड़ा नहीं होगा

जब घर में आग लगी हो
तब कुंआ खोदने का प्रयास

बांझ गाय के लिए सूखा खेत

जब दो भद्र पुरुष मिलते हैं तो उनके आगे तीन
रास्ते होते हैं।
जब एक धूर्त व्यक्ति एक भद्र-पुरुष से
मिलता है तो दो रास्ते होते हैं
जब धूर्त व्यक्ति ही धूर्त व्यक्ति के सामने
होता है तो केवल एक रास्ता रहता है[10]

पहली स्थिति में मुख्य मार्ग से हटकर दोनों भद्र पुरुष अलग-अलग रास्ता बताएंगे। इस प्रकार तीन रास्ते हो जाएंगे। दूसरी स्थिति में भद्र-पुरुष अपना मार्ग बनाएगा परंतु धूर्त व्यक्ति निर्धारित मार्ग पर चलेगा। इस प्रकार दो रास्ते बन जाएंगे। जब धूर्त व्यक्ति धूर्त व्यक्ति के सामने होता है तो कोई रास्ता नहीं बदलता और केवल एक रास्ता रह जाता है।

मूल-लोकोक्तियां

अक्कण्ण तुरपिक्कान
आशान बाल्यतिलेत्तनम

अकत्तुलतु मुघत्त विलयुम

अकलेयुल्ला बन्धुविनेक्क
अट्टुल्ला शत्रु नाल्लु

अटि कोल्लान चेन्डा
पणम वाङान मारन

10. लेखक द्वारा अंग्रेजी में अनूदित

उरक्कत्तिल कन्ड ऊणिनु
कण्णडिइल कन्ड पणम

इल मुल्लिल विणालुम मुल्लु इलइल विणालुम
इलक्कु तन्ने केटु

विद्यइल निन्नुम विनयम

वल्लभनु पुल्लुमायुधम

मचिप्पशुविने तोजुत्तु माटि केट्टियाल प्रसविक्कुमो

पुरक्कु ती पिटिक्कुमबोल
किणरु कुज़िक्कान पोइ
पालिल्लप्पासुविनु पुलु करिंज परम्पु

मर्यादकारनुम मर्यादकारनुम मुनु वज़ि
मर्यादकारनुम तेम्मातिक्कुम रन्टु वज़ि
तेम्मातिक्कुम तेम्मातिक्कुम ओरुवजि

केरल में बहुत प्रकार के वाद्य प्रचलित हैं। वे वाद्य अधिक प्रचलित होते हैं जिनमें प्रतिघात से ध्वनि निकलती है जैसे चेन्डा, मद्‌दल, तिमिला, एडक्का, उडुकु, तुडि इत्यादि। 'पानी' लयबद्ध विधि अनुसार संगीत है जो तांत्रिक नियमों के अनुसार बजाया जाता है। एडक्का, तिमिला, चेन्डा और मरम प्रतिघात द्वारा ध्वनित वाद्य हैं जो 'पानी' में बजाए जाते हैं तथा इनके साथ-साथ शंख हैं और घंटा भी बजाया जाता है। चेन्डा मेलम मंदिरों में बजाया जानेवाला सबसे प्रसिद्ध वाद्य है। मुख्य वाद्य चेन्डा के साथ-साथ इलट्टालं (मंजीरा), कोम्पु (बिगुल) तथा कुज़ल (बांसुरी) भी बजाई जाती है। कई प्रकार की लय प्रचलित है—पंचारी, अटंटा, चेम्पा, चेम्पटा, ध्रुवम्, पाण्डि। आजकल केवल पंचारी और पाण्डि ही प्रचलित हैं। प्रतिघात-संगीत में सबसे सुंदर पंचवाद्यम् है जिसमें शंख, तिमिला, मद्दलम, कोम्पु, एडक्का और एलट्टलम मिलकर बजाए जाते हैं। तिमिला मुख्य वाद्य है। तायंपका दूसरी प्रकार का संगीत है जिसमें चेन्डा मुख्य वाद्य है। लोक-वाद्य में बहुत कम वाद्य हवा से या तारों से बजाए जाते हैं। तारों से बजाए जाने वाले वाद्यों में वीणा है। 'वीणकुंजू' प्रयोग पुलवा लोक सर्प-गीतों में करते हैं। हवा से बजने वाले वाद्य कोम्पु 'बिगुल'

और 'कुज़ल' (बांसुरी) हैं। यह प्रतिघात-वाद्यों के साथ बजाए जाते हैं जिससे लय में बहाव आ जाए। यहां एक लोकगीत दिया गया है जो 'नंदुनी' नामक वाद्य के विषय में है। इस वाद्य से लय भी निकलती है और सुर भी। यह गीत 'टोट्टम' गीतों के अग्रदूत हैं जिन्हें मां काली की श्रद्धा में गाया जाता है।[11]

''समय के आरंभ में
श्री परमशिव मीनार के पूर्व में
एक पवित्र बेल का पेड़ था
विश्वकर्मा, विश्व के मूल सृजक
को ढूंढकर पेड़ के पास लाया गया
उसने कुल्हाड़ी से पेड़ को काटा
अपनी छेनी से संवारा
उसमें से उन्होंने
मां के अस्तित्व और पिता के अस्तित्व का निर्माण किया
उससे उन्होंने दो चाभी संयुक्त की
तथा उन्हें 'सैटी' और 'सेवनी' कहा
इन्हें उन्होंने दो तारों से बुना
तारों को 'अन्नवा' और 'अलंभा' कहा
तब मुख्य संगीतज्ञ
विष्णु पेरुवन्नन आए
उन्होंने चमकता हुआ
सफेद परिधान पहन रखा था
उन्होंने मारने वाले ढांचे को
बाएं हाथ से उठाया
और दाएं हाथ से मारा
तब चिड़ियों के चहचहाने की
ध्वनि आई
उन पेड़ों से जिनपर पत्ती नहीं थी
ओ श्रद्धेय मां काली...

बहुत प्रकार के लोकगीतों में से यहां एक दिया गया है। यह गीत ग्रामीण वाक्य विन्यास, मन की भावना, उपदेशक-विचार और महाग्रंथों के उल्लेख के लिए प्रसिद्ध है।[12]

---

11. डॉ.अय्यप्पा पनीक्कार द्वारा अंग्रेजी में अनूदित

12. डॉ. अय्यप्पा पनीक्कर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित

पीपल के वृक्ष के चारों ओर चबूतरा चाहिए
बराबर में एक मंदिर चाहिए
साथ ही एक तालाब चाहिए
तालाब में स्नान किया जा सके
वहां एक लाल कमल भी चाहिए
नहाने के उपरांत
चंदन का लेप चाहिए
फूल के अंदर सुंगध चाहिए
मनुष्य के अंदर सदगुण चाहिए
स्त्री में लज्जा चहिए
सीता घर में आदर्श है
राम युद्ध में आदर्श है
जब खाना और नींद को बलिदान करना हो
लक्ष्मण सबसे उत्तम है
भरत युद्ध में आदर्श हैं
उड़ने वाले पक्षियों में
तोते की बोली सबसे अच्छी है
गरुड़ के समान कोई पक्षी नहीं हो सकता
'मंगाट्टचयन' न्याय के लिए आदर्श हैं
सोना मंगलसूत्र के लिए
अंधेरे के लिए धातु का दीपक-निलाविलाक्कु[13]
'पलयाट्टचन्' युद्धकौशल के लिए आदर्श है
जैसे दूध को मीठा करने के लिए शक्कर
जब किसी को अपनी पदवी स्थिर रखनी हो
सामाजिक स्थिति से यह आवश्यकता पूरी होगी।

लोक-कथाओं के समृद्ध भंडार में से यहां दो कहानियां दी जा रही हैं जो इन कहानियों के सामान्य चरित्र और इनमें निहित उपदेश के स्वर को चित्रित करती हैं—

एक गांव में एक समृद्ध व्यक्ति के पास धातु के बने हुए बर्तन थे। गांव के लोग शादी आदि के अवसरों पर यह बर्तन उससे मांग लिया करते थे। एक बार एक आदमी ने ये बर्तन मांगे। वापस करते समय उसने कुछ छोटे बर्तन बढ़ाकर दिए। समृद्ध व्यक्ति ने पूछा कि बर्तन कैसे बढ़ गए। उसने कहा कि मांगकर ले

13. कांचे का पारंपरिक लैंप

जाने वाले बर्तनों में से कुछ गर्भ से थे। उनके छोटे बच्चे हुए हैं। समृद्ध व्यक्ति ने ऐसे देखा जैसे उसे कहानी पर विश्वास हो गया हो और उसने बर्तन रख लिए। कुछ दिन बाद वही व्यक्ति फिर से बर्तन मांगने आया। समृद्ध-व्यक्ति ने मुस्कराते हुए बर्तन दे दिए। काफी समय तक बर्तन वापस नहीं आए। बर्तनों के स्वामी ने इसका कारण पूछा। मांगने वाले ने कहा कि वह बर्तन नहीं दे सकता, क्योंकि उनकी मृत्यु हो गई है। 'परंतु बर्तन कैसे मर सकते हैं' समृद्ध व्यक्ति ने पूछा। 'क्यूं' उत्तर मिला, 'यदि बर्तनों के बच्चे हो सकते हैं तो वे मर भी सकते हैं।'

गांव में एक लड़की थी। उसे उसकी सौतेली मां सदा सताती रहती थी। उसे कठिन परिश्रम करना पड़ता था और सौतेली मां की लड़की घर में केवल आनंद करती रहती थी। सौतेली बेटी के साथ दुर्व्यवहार चरम सीमा पर पहुंच गया। एक बार लड़की के पिता घर से बाहर गए हुए थे। सौतेली मां ने लड़की को घर से बाहर निकाल दिया। लड़की गांव की सड़क पर जा रही शी। वह बिल्कुल थकी हुई थी और भूखी थी। उसने एक बूढ़ी स्त्री को देखा। वह जुंओं के कारण सिर खुजला रही थी। लड़की अपना दुःख भूल गई और बुढ़िया के सिर से जूं निकालने लगी। लड़की से प्रसन्न होकर वृद्धा उसे अपने घर ले गई। उससे कहा कि रसोई से कोई बर्तन उठाओ और उसमें खाना बनाओ। लड़की ने छोटा-सा बर्तन चुना और उसमें खाना बनाया। दोनों ने मिलकर खाना खाया। वृद्धा ने कहा कि घर के अंदर के कमरे में एक संदूक भेंट करती हूं, चुन लो। लड़की ने सबसे छोटा संदूक चुना और अपने घर वापस आ गई।

संदूक खोलने पर उसमें सोना ही सोना मिला। सौतेली मां बहुत प्रसन्न हुई। उसने अपनी लड़की को भी उसी स्थान पर भेजा। लड़की गई और उसे वही वृद्धा मिली। लड़की की भी वही अनुभव हुआ। जब वह घर वापस गई तो संदूक में सांप ही सांप थे। सौतेली मां और उसकी लड़की को सांपों ने डँस लिया और वे दोनों मर गईं।

7

संगीत, नृत्य और नाटक

केरल के कलात्मक जीवन का आधार द्रविड़ों के पहले प्रचलित विधि-विधानों तथा ग्रामीण जनसाधरण की आत्माभिव्यक्ति में निहित है। आर्यों का सौंदर्य के प्रति दृष्टिकोण, जो वैदिक शास्त्रोक्त-विधियों में विकसित हुआ, इस कलात्मक संस्कृति को नया आयाम देने में सफल रहा। यह समन्वय अधिकांश कलाकृतियों में देखा जा सकता है। 'कुडियाटम' संस्कृत-नाटक की वह विधा है जो आज भी जीवित है। यह नाटक केरल के मंदिरों से जुड़े नाटक-घरों में, जिन्हें 'कुत्तमपलम' कहते हैं, खेले जाते हैं। यह नाटक इस समन्वय का प्रतीक है। केरल के भवन, रहने के घर, मंदिर तथा मंदिर से जुड़े नाट्य-घर विशिष्ट गृह-निर्माण कला के प्रतीक हैं तथा पुरातन-काल की याद दिलाते हैं। यह भवन अपनी कलात्मकता के कारण आज भी जीवित हैं। इनके जीवित रहने का कारण इनकी उपयोगिता ही नहीं है, क्योंकि उपयोगिता तो समय द्वारा सुनिश्चित हो चुकी है परंतु इनमें अपना ही आकर्षण है। ऐसा प्रत्येक संस्कृति में पाया जाता है। परंतु स्थानीय-संस्कृति की अपनी विशेषताएं होती हैं। मंदिर की नाट्यशाला (कुत्तममपलम) की सरल निर्माण शैली होती है। इसी प्रकार केरल के किसी भी घर में चाहे वह नालुकेट (चार हिस्से और बीच में प्रांगण) हो या एट्टुकेट (दो नालुकेट तथा बीच में दो आंगन) या कोई मंदिर हो, सबकी भवन-निर्माण-कला परंपरागत है तथा यही शैली समस्त देश में प्रचलित है। इस निर्माण-कला में अब परिवर्तन आ गया है। अब विचारधारा बदल गई है और रुचि में विचित्रता, भद्दापन और कुछ हद तक गंवारपन दिखाई देता है। अब मूल्य बदल गए हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को समयानुसार बदलना पड़ता है। चाहे पुरातन से कितना ही लगाव हो, पर उस पर घातक-प्रहार को सहना पड़ता है। यह प्रश्न केवल मन की दुर्बलता का नहीं है और न ही भूतकाल की गरिमा में जीते रहने का है। प्रश्न है देश की सदियों से चली आ रही कलात्मक धरोहर को अक्षुण्ण रखने का। यह प्रश्न सौंदर्य की परिभाषा को भी जीवित रखने का है जिसे धार्मिक चेतना ने प्रकृति के संसर्ग में रहकर, वातावरण से प्रेरित होकर,

युग-युग से जीवित रखा है। वास्तविक कला-प्रेमी, जिसे सौंदर्य का ज्ञान है, जिसमें कल्पना शक्ति है, सृजनात्मकता है और मूल्यों के प्रति निष्ठा है वह समस्त जाति की कलात्मक सफलता को उसकी संपूर्णता में देखता है चाहे वह सफलता भवन-निर्माण कला की हो, मूर्ति-कला की हो अथवा चित्रकारी संगीत या नृत्य की हो।

प्रारंभिक-काल से केरल में कई संस्कृतियों का समन्वय हुआ तथा उन्होंने इस अनुभव को स्वस्थ एवं सुंदर रूप दिया। त्रिवेंद्रम के कुछ भवनों में विक्टोरिया के समय की भवन निर्माण कला का स्पर्श भी है और स्थानीय निर्माण -कला का भी। इन दोनों का समन्वय बहुत सुंदर है। कनक्कुन नामक विख्यात स्थान पर हौलेंड की निर्माण कला का स्थानीय कला से सुंदर समन्वय हुआ है। केरल के अजायब-घर में भी स्थानीय-कला और विदेश की कला का सुंदर सम्मिश्रण है। वहां की ऊंची दीवारें तथा उनपर बने फूल इंग्लैंड की कला के प्रतीक है। परंतु इससे समस्त भवन के सौंदर्य पर कोई असर नहीं पड़ा है। तक्कला का पद्मनाभपुरम् महल अब तमिलनाडु में स्थित है। यह एक पुराना महल है तथा इसका निर्माण केरल की परंपरा के अनुसार है जैसे सामने लंबा रास्ता है, दीवारें मंदिर के समान हैं। छत नोकीली है। केरल का दक्षिणी हिस्सा जो अब तमिलनाडु में है वहां बहुत से भवन मंदिरों की भांति बने हुए हैं तथा उनमें तमिल और केरल की निर्माण कला का समन्वय है जैसे कुमारी-कोविल का सुब्रमण्य-मंदिर और कन्या कुमारी मंदिर। परंतु इन स्थानों पर पुराने रहने के घर, विशेष रूप से नायर लोगों के—विशुद्ध केरल भवन निर्माण कला के प्रतीक हैं।

केरल की निर्माण-कला सरल है तथा द्रविड़यन कला से भिन्न है। द्रविड़यन गोपुरम् में स्तंभों पर देवी-देवताओं की आकृतियां खुदी हुई हैं जैसे वह स्वर्ग की ओर उठ रही हैं। केरल में तमिल भवन निर्माण कला का आगमन सोलहवीं शताब्दी में हुआ जब गोपुरम की कला, त्रिवेंद्रम के श्री पद्मनाभम् मंदिर में प्रवष्टि हुई। इस परिवर्तन से नई प्रकार की कला का जन्म हुआ। अजायबघर के भवन में, जिसका पहले जिक्र किया जा चुका है, दो प्रकार की निर्माण कलाओं का समन्वय था। इस मंदिर में दो प्रकार की निर्माण-कला का समन्वय नहीं है, बल्कि एक नई प्रकार की निर्माण-कला को प्रारंभ किया गया है जो इस प्रदेश से संबंधित नहीं है। परंतु सुदूर दक्षिणी भाग का यह परिवर्तन वहीं तक सीमित रहा। और स्थानों पर इस प्रकार का परिवर्तन दिखाई नहीं देता। केरल के भवनों में सुंदर सज्जा है। उनके स्तंभों और छतों पर सुंदर मूर्तियां खुदी हुई हैं। यह परंपरा सरल और सुंदर है। कला सौंदर्य का प्रतीक है तथा इसके दो लक्ष्य हैं। एक ओर कला लाभप्रद है और दूसरी ओर यह ऊंचाई की पराकाष्ठा पर पंहुचाती है। यह बात केवल भवन निर्माण कला पर ही लागू नहीं होती, बल्कि कला की सब विधाओं के लिए सत्य है। समस्त लोगों का कलात्मक जीवन संबद्ध रूप में देखना चाहिए तथा समझना

चाहिए कि सबका एक ही लक्ष्य है। तभी हम भवन निर्माण कला और नृत्य कला को मिला सकेंगे जो भावनाओं के अनुरूप अपने शरीर को रचनात्मक आकृति देता है, जिसपर प्रादेशिक कला का भी प्रभाव होता है।

केरल के संगीत को पहचानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसके मूल में वैदिक संगीत है तथा लोक-संगीत और आदिवासियों के संगीत का भी प्रभाव है। जो बात संगीत में है वही भवन निर्माण कला आदि में भी है। केरल की संगीत-कला में एक प्रकार की सरलता है। दक्षिण भारत की समस्त संगीत-विधाओं में एकता है। दक्षिण भारत के संगीत को कर्नाटक संगीत कहते हैं क्योंकि इस संगीत में समानता है। परंतु दक्षिण के प्रत्येक प्रदेश के संगीत की अपनी संस्कृति है तथा समानता होते हुए भी भिन्नता है। केरल के संगीत को 'सोपानम्-संगीतम्' कहते हैं। यह नाम 'सोपानम्' से निकला है जिसका अर्थ मंदिर की सीढ़ियां हैं जो मंदिर के गर्भ-स्थल तक जाती है जहां से इस संगीत का उद्गम हुआ तथा सदियों से यह संगीत वहां विकसित होता रहा। इस संगीत में वैदिक संगीत, लोक-संगीत और आदिवासी संगीत का समन्वय है। संगीत की सरलता और विशेषता केवल संगीत तक ही सीमित नहीं है। यह सादगी परंपरागत रहने के कारण घरों और मंदिरों आदि की निर्माण-कला में भी देखी जा सकती है। हमेशा भवन के बीच में मुख्य-स्थल होता है। जो सीढ़ियां गर्भ-गृह तक ले जाती हैं, इस स्थान पर देवी, देवता का निवास होता है। जो सीढ़ियां गर्भ-गृह तक ले जाती हैं उन्हें सोपानम् कहते हैं। यह काली कलम (प्रांगण में मां काली के बनाए चित्र) पर आधारित है। 'कलम' की प्रत्येक रेखा और रंग में अलौकिक शक्ति होती है तथा काली बीच के बिंदु में अवतरित होती हैं। श्रद्धालु व्यक्ति मंदिर के सामने से अंदर घुसता है तथा उसे गोपुरम अनाक्कोटिल (झोंपड़ी, जिसकी ऊंची छत होती है तथा जिस हाथी पर देवी-देवता का जुलूस निकलता है, वह उसमें विश्राम करता है) आदि से गुजरना पड़ता है। उसके पश्चात वह गर्भ-गृह में पहुंचता हैं श्रद्धालु व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह श्रीकोविल या मंदिर के चारों ओर सोपानम् के आरंभ से घड़ी की दिशा के अनुसार घूमता हुआ जाए तथा आत्मिक और मानसिक उन्नति के शिखर पर पहुंचकर देवता से एकात्मकता स्थापित कर ले। सोपानम् संगीत की रचना में भी संगीतज्ञ भक्ति भाव की चरम-सीमा पर पहुंच जाता है।

यह बात विश्वसनीय लगती है कि सोपानम् संगीत का विकास काली की कलम (प्रांगण में की हुई चित्रकारी) के सम्मुख ईश्वर की स्तुति में गाए जानेवाले गीतों में तथा बाद में मंदिर के गर्भ स्थल पर गाए जानेवाले संगीत से हुआ। एक समय में यह संगीत सब प्रकार के शास्त्रोक्त विधि-विधानों से संबंधित था। परंतु कुछ ऐतिहासिक कारणों से यह गायन और अन्य स्थानों पर समाप्तप्राय हो गया और मंदिरों में सीमित हो गया। इस संगीत में ताजगी भी है और आंतरिक शक्ति

भी। पाजुर, तिरुमन्धाम्कुन्नु, गुरुवायूर, रामामंगलम् जैसे कुछ मंदिरों में संगीत परंपरागत गायकों द्वारा गाया जाता है। तिरुमन्धाम्कुन्नु बानी के नीरलाट्ट रामा पोडुवाल, गुरुवायूर बानी के जनार्धनन नेडुंगाडि, मुडियेट्ट बानी के दामोदर मरार कुछ विशिष्ट गायक हैं। यद्यपि गायन की इस विधा का ह्रास हो गया है, परंतु कुछ लोगों ने इस संगीत में अब विशेष दिलचस्पी दिखाई है।

वैदिक-संगीत में संस्कृत परंपरा की गरिमा है, परंतु सोपानम् संगीत में लोक संगीत का आकर्षण है और यह संगीत मुख्य रूप से भक्ति संगीत है। मंदिरों के संगीत से इस गायन में बहुत से परिवर्तन आए हैं तथा यह संगीत 'अष्टपदियाट्टम्' में नृत्य संगीत बन गया है। बाद में इस संगीत को कृष्णाट्टम् में लिया गया। यह संगीत कलम-पाट्टु (प्रांगण चित्रकला), मुडिये और कथाकली का भी गायन है। कथाकली तक पहुंचते-पहुंचते यह संगीत अपनी उन्नति के चरम-शिखर पर पहुंच जाता है। इस संगीत का विकास भी हुआ। और भी बहुत से राग इसमें हैं। परंतु यह गायन संगीत-सभाओं में नहीं गाया जाता। यह प्रश्न विचारणीय है कि सोपानम् संगीत गायन की कोई विशेष विधा क्यों नहीं बन पाई। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में गीत गोविंदम् के बाद इस संगीत को विशेष प्रोत्साहन मिला। इसके द्वारा पाट्टु संगीत का पुनरुद्वार हुआ जो भक्ति-त्यानिस (दो पंक्ति के सरल गीत जो मंदिर के मुख्य स्थल पर, दिन में, अलग-अलग पूजा के समय गाए जाते थे) में सुरक्षित है। देवता को प्रसाद चढ़ाते समय संगीतज्ञ को प्रेरणा मिलती है तथा वह समय के अनुसार राग चुनकर गाता है। इन रागों को 'समय-राग' कहते हैं क्योंकि यह समय के अनुसार चुने जाते हैं। महाग्रंथ 'चिलाप्पतिकरम्' में लिखा है कि 'त्यानिस' का मूल प्रदेश के प्रारंभिक गायकों में है। लोकगीतों और आदिवासियों के गीतों की परंपरा को 'गीत गोविंदम' में सम्मिलित किया गया जिससे वे मंदिर के गर्भ स्थल पर गाए जा सकें। इस संगीत से 'अष्टपदियाट्टम' नामक नृत्य का आरंभ हुआ। परंतु बाद में यह नृत्य-विद्या समाप्त हो गई। यह संगीत और नृत्य विद्या मानावेदा और कालीकट के जमोरिन द्वारा कृष्णागीत की रचना के लिए प्रयोग की गई। कविता और नृत्य, कृष्णाट्टम, गुरुवायूर मंदिर में प्रदर्शित किया जाता था।

केरल के संगीत की पुरातनता, प्रादेशिकता और स्वछंदता को विभिन्न ग्रामीण नृत्य और संगीत विधाओं में देखा जा सकता है। कर्नाटक संगीत के महत्वपूर्ण राग, जिनमें कल्याणी और खंबोज जैसे मुख्य राग भी सम्मिलित हैं, कथाकली संगी में आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाए जाते हैं। इस प्रदेश ने कुछ भावनाओं को व्यक्त करने के लिए, अपने कोष में, सुरीले गायन को सुरक्षित रखा है। यह सुरीले गीत पटि, इन्दिशा, पुरनिरू, काणकुर्रिंजि आदि नामों से जाने जाते हैं। कुछ और राग जैसे श्रीकन्धि, देशाक्षि, नलता और सामन्तमालहरि पुराने भक्ति गीतों में प्रयोग

किए जाते हैं। इनकी विशेष लय है और प्रादेशिक चरित्र है। इन गीतों के साथ कुछ वाद्य जैसे इडका, मद्दलम् और चेंडा समांतर संगीत उत्पन्न करते हैं जिनसे संयुक्त भावनाएं अभिव्यक्त होती हैं। इस संगीत की जड़ें पुरातन से जुड़ी हुई हैं। केरल के लोगों की संगीत में विशेष बुद्धिमता 'चिलाप्पतिकरम्' के दिनों से देखी जा सकती है।

इस संगीत में एक प्रकार की सुंदरता थी जैसा कि पुस्तक के आरंभ में लिखा है। इस संगीत के दो भाग हैं पान (पूर्ण-राग) और तीरन (इससे उत्पन्न अन्य-राग)। पुरातन संगीत की विभिन्न लय थी जो 'पान' और 'तीरन' के समन्वय से उत्पन्न होती थी।

शास्त्रीय और लोक संगीत की भिन्नता केवल ज्ञान के लिए आवश्यक है। अन्यथा प्रत्येक कला और संगीत पुरातन द्वारा निरंतर प्रभावित होती है और वह उसे ताज़गी प्रदान करता है। यदि यह प्रभाव नहीं होगा तो कला और संगीत बहुत उबाऊ और सुस्त हो जाएगा। परंतु शास्त्रीय संगीत या किसी भी कला के विकास की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। विशेष रूप से उस समय जब उस कला का पुनरुद्धार होता है। इस प्रकार जब हम कला पर लोककला के प्रभाव को समझते हैं तो समय-समय पर उसके पुनरुत्थान को समझना आवश्यक है। कभी-कभी आगे की ओर भागते हुए, पहले की लोक-संस्कृति को पीछे छोड़ दिया जाता है। श्री स्वाति तिरुनाल रामवर्मा महाराज (सन् 1813-1847) त्रावनकोर के राजकीय संगीतज्ञ थे। इन्हें केरल के आधुनिक संगीत का पिता कहा जाता है। इनके समय में केरल में हर तरह की कलाओं का पुनरुद्धार हुआ। परंतु इस समय में कर्नाटक संगीत और पुरातन संगीत के विकास को बहुत धक्का लगा। तंजौर तथा अन्य स्थानों से निपुण संगीतज्ञों को बुलाया जाता था तथा राजा स्वयं भिन्न प्रकार के गीतों की रचना करते थे। इनमें कर्नाटक और हिंदुस्तानी गाने भी सम्मिलित थे। राजा गोविंद मरार जैसे संगीतज्ञों को सरंक्षण देते थे जो राममंगलम मंदिर से संबद्ध थे और सोपानम्-संगीत के विशेषज्ञ थे। इरयिम्मनतंपि, कथाकली के महान् रचनाकार थे और उन्हें भी राजा का संरक्षण प्राप्त था। गोविंद मरार को षड्कला के नाम से सम्मानित किया गया। यह सम्मान उनके नाम से पहले जोड़ा जाता था तथा इस बात का प्रतीक था कि वे 'पल्लवी' को छः प्रकार से गा सकते हैं। राजा ने गोविंद मरार को, त्यागराजा स्वामी को, अपनी राज्यसभा में निर्मंत्रित करने के लिए भेजा। गोविंद मरार साधु-संगीतज्ञ के पास गए और वे भी उनकी संगीत कला से प्रभावित हुए। बाद में उन्होंने संन्यास ले लिया और जीवन का शेष भाग पंडारीपुरम् में बिताया।

श्री स्वामी तिरुनाल ने कर्नाटक ढंग से अनुरूप कृति की और कथाकली के संगीत को प्रयोग में लाते हुए 'पद्य' की रचना की और सामयिक संगीत को

विकसित किया। पद्य केवल 'मोहिनियाट्टम' के लिए थे। श्री स्वाति तिरुनाल अपने गीत, अपने देवता श्री पद्मनाम के स्थल पर लिखते थे। वे गायक भी थे और संगीतज्ञ भी। वे स्थानीय शैली में अंतर्ज्ञान द्वारा गाते थे। यह परंपरा कुछ संगीतज्ञों ने सुरक्षित रखी है, जिन्हें 'मुल्लामुट्टील भागवतर' कहा जाता है। श्री स्वाति तिरुनाल की संगीत रचना की शैली समस्त प्रदेश में प्रचलित थी। परंतु इस गायन शैली को कुछ संगीत पंडितों ने, जो त्रावनकोर के राजा के संरक्षण में थे, दूसरा रूप दे दिया। यह बात नहीं है कि मूल लय को कभी बदलना नहीं चाहिए। परंतु यह पुनः निर्माण था। पुनर्रचना तभी होगी जब मूल लय को जीवित रखते हुए विकास किया जाए। समांतर अंतर 'मोहिनियाट्टम' की रचना में भी विशेषज्ञों द्वारा किया गया जिन्होंने भरतनाट्यम की शिक्षा ली थी। धीरे-धीरे 'मोहिनियाट्टम' से ली जाने लगी। संगीत के प्रेमियों और संगीतज्ञों का विचार है कि 'मोहिनियाट्टम' की गति धीमी है तथा इस कला को समृद्ध नहीं किया जा सकता। इसकी भावनात्मकता को ठीक से नहीं दर्शाया जा सकता। कोई भी नृत्य कला तब तक विकसित नहीं हो सकती जब तक उसके मूल को सुरक्षित न रखा जाए। 'मोहिनियाट्टम' पर इस प्रकार का प्रभाव पड़ा जो उसके विकास के लिए बाधक सिद्ध हुआ। इस कला का परंपरागत लोक-संस्कृति से संबंध टूट गया।

यह ध्यान देने योग्य विषय है कि श्री कार्तिक तिरुनाल रामवर्मा महाराज (1758-1798) के समय में, जो श्री स्वाति तिरुनाल से पहले हुए, मोहिनियाट्टम को यथायोग्य स्थान मिला। उन्होंने अपनी वृहद पुस्तक 'बालरम्भारतम्' में नृत्य की कला के विषय में विस्तार से लिखा है। इस समय यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि श्री स्वाति तिरुनाल की मृत्यु के समय (1848) में एक महान् कलाकार रवि वर्मा का जन्म हुआ। उनकी चित्रकला पर विदेशी प्रभाव था तथा वह समस्त विश्व में विख्यात हुईं। यह आश्चर्य की बात है कि उन जैसे कलाकार ने प्रादेशिक लोक चित्रकला से प्रेरणा नहीं ली। विशेष रूप से पटयानी और तैय्यम से। उस समय का यही तरीका था। वर्षों बाद लोगों ने अपने देश की लोक कला और तांत्रिक कला से प्रेरणा लेनी आरंभ की। जब हम इस प्रदेश के नृत्य और संगीत के संबंध को जानने का प्रयास करते हैं तो पता चलता है कि केरल का लास्य-नृत्य 'मोहनियाट्टम' अभिनीत संगीत का विकसित दर्शनीय रूप है संगीत की परंपरा नृत्य परंपरा के साथ-साथ विकसित हो रही थी। नृत्य कला के गति-शास्त्र और संगीत के वाक्य-रचना की लय में संबंध है। गमक का संगीत में भी महत्वपूर्ण स्थान था। स्त्रियों की नृत्य परंपरा का एक इतिहास है जो 'शिलापदिकारम्' के दिनों तक जाता है। इस महान् कार्य में विस्तृत विवरण दिया गया है कि परयूर-कुट्टाचाक्यान, जो चेरा देश के चकयार कलाकारों के पूर्वज थे, किस प्रकार अर्धनारीश्वर (अर्ध शिव-अर्धपार्वती) नृत्य चेरा राजा चेनकुट्टवन के सम्मुख करते थे। इस संगीतात्मक

ग्रंथ को पढ़ते पढ़ते अभिसारिका की सुंदर गति की कल्पना की जा सकती है। ग्रंथ में संगीत अथवा नृत्य का विस्तृत विवरण नहीं है। परंतु इस रचना की कल्पना स्त्री और पुरुष को सम्मुख रखकर की गई थी तथा ग्रंथ के संगीत विवरण को 'लास्य' और 'तांडव' के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस विचार को 'मोहिनी' की धारणा में भी देखा जा सकता है जो बाद में कथकली में सम्मिलित की गई। यही धारणा ललित-पूतना के परिवर्तित रूप 'पूतना मोक्षम्', विष्णु मोहिनी से संबंधित महाग्रंथों की कहानियों में, जो अमृतमंथन से संबंधित है या श्री शास्ता के जन्म या भस्मासुर या रुग्मांगदा की कहानियों में देखी जा सकती है।

चकयार जाति की स्त्रियां जिन्हें नांगियार कहते हैं, कुडियट्टम के नृत्यों में भाग लेती थीं तथा उनकी नृत्य-कला 'नांगियार कुत्तु', के रूप में विकसित हुई। अब नंगियार कुत्तु लगभग समाप्त प्रायः हो गया है। एलपी में अंबलापूजा के मंदिर में यह नृत्य वार्षिक उत्सवों में किया जाता था। परंतु संरक्षण न मिलने के कारण यह रीति भी समाप्त हो रही है। देवदासियों के विपरीत, इन स्त्रियों का सुखद वैवाहिक जीवन होता था। वह पुरुषों के जीवन और कला में सहयोग देती थीं। पुराने जागीरदारी समाज में इन नर्तकियों का विशिष्ट स्थान था। यह अन्य राजाओं के साथ बैठ सकती थीं। यह कहना कठिन है कि 'मोहिनियाट्टम' का मूल 'नांगियर कुत्तु' में है कि नहीं, परंतु नांगियार द्वारा कुडियट्टम में गाए जाने वाले 'अक्किता' में सोपानम् संगीत के ही गुण हैं जिसमें लोग गीत और वैदिक संगीत का सम्मिश्रण है। 'मणिप्रवाल' की कविताओं जैसे 'उण्णियाडिचरितम्' जो 12वीं, 13वीं सदी में लिखी गई थी, नायिकाएं नांगियार जाति की नर्तकियां होती थीं तथा लेखक चकयार जाति के होते थे। इन ग्रंथों में कविता प्रदेश के संगीत के अनुरूप लिखी जाती थी तथा इसमें दंडका (वह रचना जिसमें भावनाओं को लयबद्ध किया जाता है जिससे भावनाओं का उद्रेक हो सके) भी सम्मिलित है तथा लयबद्ध गद्य आदि भी सम्मिलित है। दंडका संगीत और चारी नृत्य कथकली नृत्य में विकसित हुआ जो नृत्य और संगीत की साधारण धारणा द्वारा प्रेरित था। इससे यह बात पूरी तरह से सामने आती है कि इस प्रदेश की नृत्य और संगीत कला उन सब कलाओं में अभिव्यक्त हुई जिनमें स्त्रियों का लास्य रूप चित्रित किया गया है जैसे स्त्रियों के लोक-नृत्य तिरुवतिरा, कथाकली, नांगियार कुत्तु, कृष्णापट्टम आदि। लास्य-नृत्य का सबसे उत्तम समय वह था जब नांगियार जाति की स्त्रियों ने इसे 'नांगिआर-कुत्तु' में विकसित किया।

कथकली और 'कृष्णानाट्यम्' में स्त्रियां सम्मिलित नहीं होती थीं। बहुत-सी लोक नाट्य विधाओं जैसे काक्कारिस्सा, पोराट्ट, मुडियेट्ट यात्राकली आदि में भी स्त्रियां सम्मिलित नहीं थीं। कथाकली और कृष्णानाट्यम् में लास्य को भी सम्मिलित किया गया जो 'मोहिनी' विद्या से लिया गया जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति मोहिनीयाट्टम

व उसके तांडव रूप में है जो अधिकांशतः कलारी नामक केरल की सामरिक-कला से लिया गया। 'कलारी' के साथ कोई वाद्य नहीं होते जो उसकी भाव-भंगिमाओं को निर्धारित कर सके। कलाकार की शारीरिक गति के विषय में गुरु शब्दों द्वारा आदेश देता है जो एक विशेष लय में अभिव्यक्ति किए जाते हैं। इन कलाओं में गति, गतिहीनता अथवा स्थिर स्थिति को भी लय दी जाती है। केवल उन स्थानों को छोड़कर जहां नाटकीय विराम की आवश्यकता हो अथवा स्वर की आवश्यकता न हो। हर कला के अपने वाद्य हैं। प्रत्येक नाटकीय कला में प्रतिघात द्वारा स्वर उत्पन्न करने वाले वाद्य जैसे चेंडा, मद्दलम, एडक्का और मिज़वू आदि प्रयोग में लाए जाते हैं। कथाकली में चेंडा और मद्दलम मुख्य वाद्य है। इनके अतिरिक्त चैंगिला (गौंग) और एलाट्टलम (सिमबल) भी दो गायकों द्वारा प्रयुक्त होते हैं। एडक्का द्वारा कुछ विशेष प्रभाव बहुत सुंदर होता है। चेंडा और मद्दलम् को कथाकली में बाद में प्रयुक्त किया जाने लगा। चेंडा बहुत-सी लोक-कलाओं में प्रयुक्त होता था। बहुत से लोकनृत्यों में तथा नाट्य कलाओं में जिनमें ग्रामीण नाटक पुलिक्कलि (तेंदुए का नाटक) अथवा कड़ुवाकाली (चीते का नाटक) आदि सम्मिलित हैं तथा उच्चस्तरीय तेय्यम आदि में चेंडा का प्रयोग बहुतायत से किया जाता है तथा खुले-स्थान पर इसका प्रभाव बहुत सुंदर होता है। 'कथाकली' को भी मंदिर के खुले नाटक स्थल पर खेला जाता है और इसके कारण इस कला के लिए यह वाद्य उपयुक्त समझा जाता है। कथाकली में दक्ष ढोल वादकों द्वारा, चेंडा वाद्य से, सूक्ष्म भावों का चित्रण, जैसे कमल का खिलना, कलाकारों की गति द्वारा सुंदरता और सूक्ष्मता से प्रदर्शित किया जाता है। इस वाद्य द्वारा स्त्रियों का नृत्य प्रस्तुत नहीं किया जाता। केवल ऐसे स्थानों पर वाद्य का प्रयोग किया जाता है जब राक्षसी सुंदर स्त्री के रूप से भयंकर राक्षसी पूतना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। स्त्रियों के लास्य नृत्य के साथ मद्दलम् वाद्य का प्रयोग होता है। आजकल कथकली में प्रयुक्त होने वाले मद्दलम् को सुधा-मद्दलम् कहते हैं। पहले तोप्पिमद्दलम, जो कोमल-वाद्य था, कथाकली में प्रयुक्त होता था। यह वाद्य मृदंगम के निकट था। अब यह वाद्य और 'सुधा मद्दलम कृष्णानाट्यम में प्रयुक्त होता है।

सुधा-मद्दलम् और तोप्पिमद्दलम् के संगीत का सम्मिश्रण बहुत सुंदर लगता है। यह सम्मिश्रण चरित्रों के भाव को बहुत सुंदरता से व्यक्त करता है। 'कथाकली' के भावों में अधिक गहराई होती है तथा काव्य के प्रत्येक शब्द को अभिनय द्वारा सूक्ष्मता से चित्रित किया जाता है। इस प्रकार भावों की अभिव्यक्ति के लिए लय का प्रयोग किया जाता है तथा मद्दलम केरल की स्त्रियों के नृत्य की धारणा के महत्व को पूर्ण रूप से प्रकाश में लाता है।

कलारी, केरल की नृत्य संस्कृति का वह भाग है जो शक्ति से परिपूर्ण है। कलारी नृत्य द्वारा प्रत्येक नर्तकी और नर्तक के शरीर में लचीलापन आ जाता है

और वह नृत्य कला में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। मूल रूप से कथकली और कलारी में समानता है। कथकली में चुजिप्प (चक्कर लगाना) कलारी के वाडिव से लिया गया है। मोहिनीयाट्टम में भी चक्कर लगाए जाते हैं परंतु इस नृत्य में लास्य भाव का महत्व होता है। वदिवु स्थिरता से आरंभ होता है और बाद में तीव्र गति पकड़ लेता है। कलारी के शिष्य को गज (हाथी), अश्व (घोड़ा), कुक्कुट (मुर्गा), मर्जर (बिल्ली), नरसिंह (अर्धशेर, अर्ध मनुष्य; (विष्णु अवतार), मत्स्य (मछली), सर्प (सांप) आदि की आकृ ने धारण करनी पड़ती है जिससे वह वार करना और वार अपने ऊपर लेना, दोनों ही सीख सकें। प्रारंभिक गति संबंधी वाक्यों से कथाकली नृत्य आगे विकसित हुआ है। तांडव की गति कथकली ने सीधे कलारी से ली है। वास्तव में यह आदि समाज की सैनिक कला का ही विकसित रूप है। नृत्य में सैनिक परंपरा का आरंभ पुरक्कलि, परिचमुट्टकलि, कोलाटि आदि में देखा जा सकता है जहां शारीरिक संस्कृति का बहुत महत्व है। कलारी विद्या की धारणा के अनुसार यह आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति है। कलारी में 'शरीर भाव' शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है जो भारतीय अभिनय की परंपरा का प्रतीक है। अभिनय की चार विशेषताएं आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक को भारतीय सौंदर्य प्रेमियों ने संतुलित किया है। कलारी के शरीर भाव द्वारा आंगिक और सात्विक के संतुलन की आरंभिक शिक्षा मिलती है।

केरल में कलारी संस्कृति पूर्व ऐतिहासिक दिनों से प्रचलित है। इसका संबंध केरल के संस्थापक, परशुराम की पौराणिक कथा से है। आर्यों तथा परशुराम के चरित्र ने कलारी के विकसित होने में सहयोग दिया परंतु कलारी द्रविड़ों की पुलया और परया जातियों से भी संबंधित था। कलारियों द्वारा कुछ दवाइयां भी प्रयोग में लाई जाती थी तथा यह आयुर्वेद का एक भाग था। यह दवाइयां आज भी बहुत प्रचलित हैं। कुछ दवाइयां खाने की होती हैं तथा कुछ तेल लगाने के लिए होती हैं। कुछ दवाइयां घावों और हड्डी टूटने पर लगाई जाती हैं। कलारी व्यायाम के समय कुछ मंत्रों का भी उच्चारण किया जाता है जिससे मस्तिष्क एकाग्र हो सकें। अब मंत्रों का प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है और कलारी का प्रयोग शारीरिक-व्यायाम और दवाइयों के लिए किया जाता है।

कलारी की कुछ संस्थाएं है तथा कुछ गुरु हैं जो इस कला को आरंभिक रूप में जीवित रखने का प्रयास कर रहे हैं। सी.वी.एन. कलारी इनमें से एक मुख्य संस्था है तथा इसी नाम से स्थान-स्थान पर कार्य कर रही है। स्वर्गीय श्री सी.वी. नारायणम् नायर गुरुक्कल जिनके नाम पर सी.वी.एन. कलारी की स्थापना हुई, उनके पुत्र गुरुक्कल सी.वी.गोविंदनूकुट्टी नायर तथा चिराक्काल के स्वर्गीय श्री श्रीधरण नायर इस क्षेत्र के विशिष्ट नाम हैं। द्रविड़यन शब्द कलारी के मूल के विषय में संदेह है कि यह संस्कृत शब्द 'खलुरिका' से लिया गया है या खलुरिका

शब्द का मूल कलारीं है। कलारी का अर्थ है—'सेना के अभ्यास करने का स्थान'[1]। इस शब्द का उपयोग सेना के अभ्यास के स्थान के लिए भी किया जाता है तथा ज्ञानोपार्जन के स्थान के लिए भी। कलारी का अर्थ मंदिर भी है जो पारिवारिक देवता का निवास-स्थान है। इस शब्द के अन्य अर्थ भी हैं जैसे सभा स्थल, वाणिज्य स्थल आदि। वास्तविक महत्वपूर्ण बात कलारी की धारणा है जो केरल की संस्कृति और कलात्मकता को गहराई से प्रभावित करती है। बहुत से दिलचस्प त्यौहार हैं जो पुराने समय की याद दिलाते हैं और जिनमें कलारी का महत्वपूर्ण स्थान था।

बनावटी द्वंद्व जिसे 'ओच्चिरालि' कहते हैं, ओच्चिरा नामक स्थान पर जिला एलपी में किया जाता है, इसका उदाहरण है। कली (नाटक) में बहुत से लोग भाग लेते हैं। यह नाटक दो जागीरदारों—कायंकुलम व अंबलापुजा के युद्ध को चित्रित करते हैं। यह त्यौहार 15 जून के आस-पास होता है तथा दो दिन तक चलता है। दोनों दिन बनावटी द्वंद्व को प्रदर्शित किया जाता है। युद्ध ओच्चिरा मंदिर के आगे होता है। इस मंदिर की विशेषता यह है कि न तो इस मंदिर का कोई भवन है और न ही कोई देवी-देवता की प्रतिमा है। इस मंदिर में बहुत से पीपल के पेड़ हैं और श्रद्धालुगण जिनकी पूजा करते हैं। इस मंदिर में कोई राजकीय पुजारी नहीं होता। मुख्य देवता को परब्राह्मण कहते हैं। इन पर्वो को सुचारु रूप से बावन ग्रामों के चुने हुए सदस्यों द्वारा चलाया जाता है। खुला हुआ व विशाल स्थान, जो कि पतनिलम के नाम से जाना जाता है (युद्ध-स्थल), पूजा के स्थान के आगे स्थित है जहां युद्ध होता है। युद्ध में भाग लेने वाले लोग दाएं हाथ में तलवार और बाएं हाथ में ढाल लेते हैं और योद्धाओं का परिधान पहनते हैं। यह विशिष्ट प्रदर्शन है जो हमें पुरातन काल के जागीरदारों के युद्ध की याद दिलाता है तथा उन दिनों की याद दिलाता है जब हर गांव का अपना सैन्यबल होता था। नायर जाति के लोग काली में भाग लेते थे। परंतु अब इस उत्सव में समस्त जातियों के लोग भाग लेते हैं। स्त्रियां युद्ध में भाग नहीं लेतीं। द्वंद्व युद्ध भी नहीं होता। बहुत से लोग युद्ध में भाग लेते हैं। समुदाय के लोग मिलकर धावा करते हैं और बचाव भी करते हैं। युद्ध धीरे-धीरे आरंभ होता है परंतु बाद में गति पकड़ लेता है। आजकल इस युद्ध में सैनिक निपुणता दृष्टिगोचर नहीं होती। परंतु आगे और पीछे होने की गति युद्ध करनेवालों की शारीरिक क्षमता को दर्शाती है।

'वेलकलि' नामक नृत्य भी सैन्य संस्कृति का प्रतीक है। यह नृत्य त्यौहारों के समय, कुछ मंदिरों में किया जाता है तथा सब ग्रामवासी इसमें भाग लेते हैं। यह नृत्य अंबलापुज़ा में आरंभ हुआ और 16वीं सदी में बहुत महत्वपूर्ण हो गया। इस समय में समुद्र के किनारे की जागीर पर ब्राह्मण राजा का राज्य था जिसका

---

1. ए संस्कृत डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम

पारिवारिक नाम 'देवनारायण' था। इन बहुत से राजाओं ने कला और ज्ञान को संरक्षण दिया। अठारहवीं सदी के देवनारायण राजा ने कवियों और कलाकारों को प्रोत्साहित किया जिनमें कुचन नम्बयार भी सम्मिलित थे जिन्होंने तुल्लल (नृत्य) का और उसके समृद्ध साहित्य का आरंभ किया। सतरहवीं और अठारहवीं सदी में अंबलापुज़ा राज्य का बंदरगाह पुरक्काड था तथा इस राज्य के व्यापारिक संबंध पोचुगीज़ और डच लोगों से थे। इन शक्तियों से बहुत से राजाओं का समुद्र में युद्ध हुआ। वेलकलि नृत्य इन युद्धों की याद दिलाता है जो समुद्र और भूमि दोनों पर लड़ी गई। यह नृत्य प्राचीन नृत्य 'नैक्कनतुल्लल' की भांति था जो अंबलापुज़ा मंदिर में किया जाता था। पहले इस नृत्य को करने के लिए मंदिर में ही स्थान बना होता था। कुचन नाम्बयार के तुल्लल में नैकन् के मंच पर आने के संदर्भ में संकेत हैं। आधुनिक पीढ़ी में इस कला से सब अनभिज्ञ हैं। नैकन् परिवार इस कला से परिचित था। ये लोग दक्षिण कन्नड़ के रहने वाले थे और राजा के कहने से इन्हें अंबलापुजा लाया गया था। परिवार को अंबलापुज़ा के पास रखा गया तथा उनका खर्च राज्य कोष वहन करता था। यह नृत्य बाद में समाप्त हो गया और इसी से 'वेलकलि' नृत्य आरंभ हुआ। वेलकलि पर 'ओचिराक्कलि' आदि का भी प्रभाव है। वेलकलि सामूहिक नृत्य है जिसे खुले स्थान पर किया जाता है तथा इस नृत्य में अंबलापुज़ा के राजा के सम्मुख सैन्य प्रदर्शन किया जाता था। राजा देखना चाहते थे कि उनके सैनिक कैसा युद्ध लड़ते हैं। मंदिर के ईश्वर को जुलूस में, मंदिर के प्रांगण में, हाथी पर चढ़ाकर लाया जाता था। प्रदर्शन मंदिर के भगवान भी देखते थे। प्रारंभ में नर्तक गांव की सड़क पर, दाएं हाथ में रतन से बनी तलवार और बाएं हाथ में ढाल लेकर चलते हैं। नर्तकों की गति शोभनीय और लयबद्ध होती है। उनके पीछे-पीछे आनंदमग्न ग्रामीण चलते हैं तथा वे लोग नाचकर, गाकर और छोटे-छोटे झंडे फहराकर नर्तकों को उत्साहित करते हैं। यह जुलूस संध्या तक मंदिर पहुंचता है। संध्या समय कुलत्तिलवेला में यह नाटक हौज के निकट, नर्तक हाथों में हथियार लेकर, अपने शरीर को गति देकर, आरंभ करते है। उनकी परछाईं हौज़ के जल में पड़ती है जिससे संभवतः झील और समुद्र की लड़ाई की याद आती है। हौज़ की दूसरी ओर अलंकारों से सजे हाथी पर देवता सुशोभित होते हैं। नर्तक अपने स्थान पर ही रहते हैं तथा अपने शरीर को 'वेलपारा' की लय पर गति देते हैं। नृत्य के साथ यही विशेष वाद्य होता है। इसके उपरांत नर्तक मंदिर के दक्षिणी प्रांगण में एकत्र होते हैं तथा अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। यहां भी देवता, हाथी पर सुशोभित रहते हैं। लगभग आठ बजे तिरूमुंपिल वेला में नाटक आरंभ होता है जो अलौकिक शक्ति के सम्मुख खेला जाता है। वेलाकलि के अंतर्गत अकेले दो लोग अथवा बहुत से सम्मिलित लोग मिलकर युद्ध का विस्तृत चित्रण करते हैं। इस कला का मूल प्रदेश की सैनिक परंपरा में है। परंतु इस कला का

कोष समृद्ध नहीं है। इस नृत्य में मूल कला की संभावनाएं पूरी तरह से विकसित नहीं हुई हैं। आरंभिक कला 'कलारी' समृद्ध रही, परंतु इससे उत्पन्न कलाओं में साज-सज्जा तो है फिर भी ये कलाएं प्रारंभिक गति शास्त्र से ऊपर नहीं उठीं। यहां यह कहना उचित होता है कि उन्होंने, जो कुछ प्रारंभिक समृद्धि थी, उसे भी खो दिया। यात्राकलि जिसे संघक्काली, चट्टिरा अंकम, शास्त्रांकम, क्षत्रांकम, पाणकलि आदि भी कहते हैं। नंबूदरियों की कला थी, जिसका सामाजिक और राजनीतिक रूप था, परंतु बाद में यह केवल अभिव्यक्ति का साधन हो गई। इस कला का आरंभ उस समय हुआ जब धर्म, राजनीति और सामाजिक जीवन का, सम्मिलित रूप था। विश्वास किया जाता है कि इस कला का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब राजा चेरमान पेरुमल ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था और नंबूदरी ब्राह्मणों को सजा मिल रही थी। ब्राह्मण निष्कासित होकर त्रिक्कारियुर मंदिर में रह रहे थे और अंतिम युद्ध की तैयारी कर रहे थे जिससे वे अपना खोया हुआ सम्मान वापस पा सकें। इस कला में नृत्य, संगीत और नाटक भी होते थे। परंतु वे किसी कठिन बंधन में जकड़े हुए नहीं थे। वे उस समय के कलात्मक और सामाजिक जीवन का दर्पण थे। इस कला में, कुछ बदलाव के साथ अथवा उनके मूलरूप में बहुत-सी नृत्य व संगीत की प्रचलित विधाएं सम्मिलित की गईं। नाव के गीत, तिरुवतिरा गीत और नृत्य, कुराथिअट्टम, मोहिनिपुराप्पाड आदि इस कला में सम्मिलित किए गए।

इस कला के बहुत से विधि-विधान हैं जैसे कोट्टिचांमपुकल (भाग लेने वालों का आगमन), काज़चक्कोट्टु (प्रतिघात वाद्य का दोपहर के खाने के समय वादन), नालूपडम (चार भागों में विभक्त गीत जिसे समारोह की सफलता के लिए चार प्रज्वलित बत्तियों वाले दीपक के सम्मुख गाया जाता है) पाना (इस विधान द्वारा शत्रु के विरुद्ध युद्ध की तैयारी को चित्रित किया जाता है और दिखाया जाता है कि किस प्रकार बहुत-सी कलारी स्थापित कर सैनिक शिक्षा दी जाती थी), आयुधमेडप्पु (इस नाटक में जनता को युद्ध के लिए प्रेरित किया जाता है)– इन सब नाट्यों में सबसे महत्वपूर्ण 'पाना' है तथा सबसे अधिक महत्व इट्टिक्कण्डप्पन नामक चरित्र के आगमन का है। यह चरित्र राजा को सदैव गलत ही सलाह देता है। इस चरित्र का सदैव मजाक उड़ाया जाता है तथा यह चरित्र दुश्चरित्र जागीरदार का होता है। यह चरित्र नाचते और गाते हुए प्रवेश करता है जैसा सब लोक नाटकों में होता है। गायक प्रश्न करते हैं और वह उत्तर देता है। ये लंबे प्रश्न-उत्तर जागीरदारी के दर्प को चित्रित करते हैं और उसके प्रति लोगों की उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है।

इन नाटकों के कलाकार गुणवान नंबूदरी होते थे तथा इनका प्रदर्शन मृत्यु और विवाह आदि के समय किया जाता था। इन नाटकों से पता चलता है कि केरल के सांस्कृतिक इतिहास में, किसी समय, सैनिक महत्व भी रहा है। अधिकतर

नंबूदरी ब्राह्मणों को आर्यों में प्रमुख स्थान था। ये लोग इस वर्ग के पुरोहित थे या बुद्धिमान लोग थे। क्षत्रिय योद्धा होते थे। परंतु केरल की बहुत-सी जातियां युद्ध कार्य में लगी हुई थीं और नंबूदरी भी उनसे भिन्न नहीं थे। ये लोग कलारी का अभ्यास उस समय भी करते थे जब केरल पर आर्यों का प्रभुत्व था। परंतु इस परंपरागत विश्वास के अतिरिक्त नंबूदरियों ने अपने को सैनिक शक्ति के रूप में उस समय सक्षम किया जब उन्हें राजनीतिक रूप से सजा दी जाने लगी। यात्राकलि में विजय से प्राप्त नंबूदरियों की नैतिकता को चित्रित किया जाता है। संभवतः यात्रा शब्द का अर्थ है आगे-बढ़ना। इस कला को चतिरा-अंकम भी कहते थे क्योंकि इसका संबंध 'अंकम्' अथवा युद्ध से था। यात्राकलि के प्रदर्शन का एक भाग युद्ध था जिसे आयुधमेंडप अर्थात् 'शस्त्र उठाना' कहते थे। विद्वानों के मत के अनुसार 'संधम्' का तात्पर्य भी जागीरदारों के समय में युद्धरत सैनिक समुदाय है। 'काली' अथवा मुख्य नाटक 'अंकम' को हास्य-रूप में प्रदर्शित करने के बाद खेला जाता था।

केरल के जागीरदारी समाज में 'आत्महत्या समुदाय' होते थे, जिनका लक्ष्य या तो 'मारना' होता था या 'मर जाना'। इन बहादुर सैनिकों को चावेट्टु कहा करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में चेरा और चोलाओं का युद्ध होता रहता था। चेरा राजाओं ने इन बहादुर योद्धाओं का चोलाओं के विरुद्ध उपयोग किया जिसके कारण चोलाओं की हार हुई। बाद के समय में भी ऐसे वीर योद्धाओं का जिक्र जागीरदारी युद्धों में आता है। यह सिपाही प्रमुख मंदिरों के देवताओं को पूर्ण रूप से समर्पित थे तथा ये देवी की आज्ञा पर कार्य करते थे। इन सैनिकों को युद्ध की कड़ी शिक्षा दी जाती थी तथा इनका कार्य मंदिरों की रक्षा करना था। समस्त समाज को शारीरिक प्रशिक्षण देने के कारण बहुत से बुरे परिणाम हुए। भिन्न-भिन्न जातियों में सदैव तनाव बना रहता था जिसके कारण बहुत खून-खराबा हुआ। परंतु शारीरिक स्वास्थ्य की शिक्षा के कारण समस्त जाति स्वस्थ रही। इस कारण कलाओं का विकास हुआ। हिंदुओं के समान मुसलमानों और ईसाइयों आदि के भी शारीरिक प्रशिक्षण केंद्र थे। ईसाइयों की प्रदर्शित करने वाली कलाओं में मर्गम-कलि का विशेष स्थान है। यह सामूहिक नृत्य है जिसे केरल में सीरियन ईसाइयों ने विकसित किया। परिचामुट्टकलि और चविट्टनाटकम भी ईसाइयों की विशेष कलाएं हैं। परिचामुट्टु का प्रदर्शन हरिजन भी करते हैं। ईसाइयों की कला में भी प्रदेश की संस्कृति दृष्टिगोचर होती है यद्यपि उसपर विदेशी प्रभाव भी है जैसे मर्गम-कलि में सैंट थामस का जीवन चित्रित किया जाता है तथा चविट्टुनाटकम में एक कथा है जिसे करलमन (चार्ल्स, फ्रांस का राजा) कहते हैं। पाट्टु साहित्य में बहुत से ईसाई गाने हैं जो उनके धर्म का प्रचार करते हैं। एक गाने में सैंट थामस का जीवन और उनके कार्यों के विषय में बताया गया है। इन गानों पर पश्चिमी देशों का प्रभाव है परंतु लय पूर्णरूप से पश्चिमी नहीं है। इन गीतों में केरल के लोक गीतों की

धुनों का सुंदर सम्मिश्रण है। बहुत से गाने 'परिचामुट्टुकलि' में गाए जाते हैं। यह सामूहिक नृत्य है जिसमें नर्तक अपने हाथ में लकड़ी की बनी तलवार और ढाल रखते हैं। इनमें केरल की लोक धुनों का विशेष महत्व है। इन गानों की लय कुछ निरर्थक शब्दों से बनाई जाती है जो लोक वाद्य की भाषा है। जैसे एक गाना इन शब्दों से आरंभ होता है—'हिट्टा हिंडा तेय्यका तिमरुतै'। यह गाने के आगे गाए जाने वाले भाग की लय का मूल है। इन शब्दों का कोई बिल्कुल सही लय-ताल नहीं होती परंतु यह गाने की सामान्य लय से मिलते हैं। ये गाने, हिंदुओं की छोटी जातियों से ईसाई धर्म अपनाने वाले लोगों में बहुत प्रचलित हैं। बड़े-बड़े चर्चों में गाए जाने वाले गाने सीरियन गायन के अधिक निकट हैं। परंतु धीरे-धीरे इन पर भी लोक संगीत का प्रभाव पड़ने लगा। कुछ विद्वानों के अनुसार 'मर्गमकलि' यात्राकलि की नकल है। यह बात बहुत ठीक नहीं लगती। यह ठीक है कि कुछ प्रकार की लय गति बहुत-सी कला विधाओं में प्रचलित थी तथा 'यात्रा कलि' में भी सम्मिलित थी और उनका प्रभाव मर्गमकलि पर है। परंतु मर्गमकलि की वास्तविक प्रेरणा 'कलारी-पयट्टु' है जो ईसाइयों में, इस कला को विकसित करते समय, बहुत प्रचलित था। 'मर्गम्' का अर्थ है 'रास्ता, धर्म या मत'। इसका तात्पर्य ईसाई या मुसलमान मत में धर्म परिवर्तन भी हो सकता है। इस कला का उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। इस कला को प्रेरणा भारतीय संस्कृति से मिली। नर्तक तेल से भरे प्रज्जवलित दीपक के सम्मुख घेरे में नृत्य करते हैं तथा स्वयं गाना गाते हैं। साथ में कोई वाद्य नहीं बजता। नर्तकों का नेतृत्व करने वाला नर्तक पहली पंक्ति गाता है और बाकी लोग उस पंक्ति को दोहराते हैं और नाचते हैं। नर्तक पुरुष होते हैं। वह साधारण कपड़े पहनते हैं तथा एक अलग कपड़ा उनकी पगड़ी से बंधा रहता है। इन लोगों के हाथ में लकड़ी की ढाल और तलवार होती है तथा इस नृत्य को 'परिचामुट्टुकलि' कहते हैं। यह नृत्य 'मर्गम-कलि' से अलग भी किया जाता हैं। नर्तक अपने पैरों में घुंघरू बांध लेते हैं। वेलाकलि के विपरीत, नर्तक घेरे में घूमते हैं। परिचामुट्टुकलि और मर्गम-्कलि के नर्तकों को कलारी की कठिन शिक्षा लेनी पड़ती है। मर्गमकलि में जिस भाषा का प्रयोग होता है उससे पुरानी तमिल भाषा से उसके संबंध दृष्टिगोचर होते हैं।

'चाविट्टनाटकम्' नाटक की एक विधा है जिसका आरंभ 16 वीं शताब्दी में पुर्तगालियों के केरल आने पर हुआ। यह पश्चिम के संगीत-नाटकों से प्रभावित है। इन नाटकों के विषय भी पश्चिमी थे। करलमन् नाटकम्, जेनोवा नाटकम्, नेपोलियन् चरित्रम् उनमें से कुछ थे। नाटक पुरानी तमिल भाषा में लिखे हुए थे। अभिनय की कला, रंगमंच के निर्माण और विषय के वर्णन पर पश्चिमी देशों का पूरा प्रभाव था। कथाकली का प्रभाव पर्दों और वेशभूषा पर देखा जा सकता है। कलारी पयट्टु का प्रभाव युद्ध के दृश्यों में दिखाई देता है। चरित्र अपने संवाद गायन

में बोलते हैं। 'चाविट्टुनाटकम्' के लिए चुने हुए साहसिक विषय जैसे चार्लमागन, सैंटजार्ज 'कलारी पयट्टु' के लिए केवल लड़ाई के दृश्यों में ही नहीं, बल्कि पूरे गति निर्माण में प्रेरणा देते थे। कलाकार अपने वास्तविक जीवन में भी योद्धा होते थे। इन लोगों का उपयोग व्यक्तिगत भूमि का अतिक्रमण करने वाले लोगों के विरुद्ध किया जाता था। 'चाविट्टुनाटकम्' को देखकर ऐसा लगता है जैसे यह मिथ्या-रूप में, सिद्धांत के अनुसार है। परंतु ऐसा नहीं है। इस कला के सिद्धांत पर कलारी पयट्टु का गहरा असर पड़ा है। यह केवल कलारी का ही दूसरा रूप नहीं है। कलाकारों द्वारा पैरों की गति बहुत प्रभावशाली होती है। यह गति बहुत नाट्यपूर्ण होती है तथा विषय के वीरतापूर्ण भाव को प्रदर्शित करती है। यह एक संगीत नाटक है इसलिए भावों की अभिव्यक्ति हाव-भाव द्वारा नहीं होती। पैरों की गति और शरीर की गति का गायन और चंडा (प्रतिघात वाद्य जो बहुत प्रभावशाली होता है) नामक बाघ की लय से पूर्ण समन्वय होता है जिससे बहुत नाट्यपूर्ण असर उत्पन्न होता है। इस कला का प्रशिक्षण बड़े गुरु जी द्वारा दिया जाता है जिन्हें 'अन्नवी' या 'आशन्' कहते हैं। कलाकारों को ग्रंथ की शिक्षा देने से पहले युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। ग्रंथ को ताड़ के पत्ते या कागज पर सुरक्षित रखा जाता था जिसे चुवटि कहते थे। अन्नवी को तमिल का भी ज्ञान था, क्योंकि ग्रंथ इसी भाषा में लिखे जाते थे। ईसाई कार्यकर्ताओं ने इस प्रकार के नाटक तमिलनाडु और सीलोन में भी प्रचलित किए। केरल में इस कला का दोहरा उद्देश्य था। यह ईसाई समुदाय को अधिक साहसी बनाती थी तथा इसके द्वारा उन्हें और जातियों, विशेषकर हिंदुओं की सांस्कृतिक गतिविधियों का ज्ञान रहता था। ईसाई हिंदुओं के मंदिर में जाकर कथकली या कुडियाट्टम नहीं देख सकते थे। इसलिए ईसाई वर्ग के लोगों ने 'चाविट्टुनाटकम्' जैसी कला का स्वागत किया। अब इस कला का ह्रास हो रहा है क्योंकि अब इस नाट्य-शैली को जनता उत्साहित नहीं करती।

मुसलमानों की कला, जाति की दिन-प्रतिदिन की दिनचर्या, गानों द्वारा अभिव्यक्त करती है जिन्हें 'माप्पिलापाट्टुकल' (मोपला-गायन) कहते हैं। इन गानों में अरब और स्थानीय परंपराओं का सुंदर सम्मिश्रण है। इन गानों की भाषा में अरब, परशियन, उर्दू, हिंदी, तमिल संस्कृत और कन्नड़ भाषा का मिला-जुला प्रयोग है। मोपला गानों का इतिहास सात सौ वर्ष पुराना है। ये गाने बेहद लयात्मक व कल्पनात्मक हैं और साथ ही साथ मानवीय भी हैं, धरातल से जुड़े हुए भी हैं। पहले के गाने, धार्मिक लोगों के विषय में, भक्ति-भाव से गाए गए हैं। कुछ गाने धार्मिक रीति-रिवाजों, घर के उत्सवों, शादी-विवाह के अवसरों पर गाए जाते थे, कुछ गाने नृत्य के साथ भी गाए जाते थे। प्यार, साहस और भक्ति इन गानों के मुख्य विषय हैं। काम-काज करने वाले मुसलमान इन गानों को, कार्य के उबाऊपन को दूर करने के लिए गाते हैं। कुछ गाने आध्यात्मिक सिद्धांतों को अभिव्यक्त करते हैं जो बहुत

पसंद किए जाते हैं। कुछ गाने प्रेम-संबंधी हैं जिन्हें 'केस' कहते हैं। जो बाद में जोड़े गए प्रतीत होते हैं।

मुस्लिम जाति ने जनसाधारण के लिए जीवंत नृत्य कला का विकास किया। मुसलमानों की 'कोलक्कली' हरिजनों व ईसाइयों की 'कोलक्कली' के समान है। यह समूह नृत्य है। इस नृत्य को गोल घेरे में किया जाता है। इसमें हाथों में लकड़ी के डंडे होते हैं जिन्हें एक-दूसरे पर मारने से लय उत्पन्न होती है। पैरों की गति के साथ-साथ गाना गाया जाता है जिसके प्रारंभ में निरर्थक शब्द होते हैं और बाद में गाना आरंभ होता है। नृत्य धीरे-धीरे आरंभ होता है और बाद में तेज गति पकड़ लेता है जिसके द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि से दिलचस्प उत्कर्ष आ जाता है। नृत्य में तरह-तरह के नृत्य संबंधी आकार बनाए जाते हैं। इस नृत्य में केवल पुरुष भाग लेते हैं। नर्तकों के लिए कुछ सैनिक शिक्षा आवश्यक है।

मुस्लिम-जाति में मनोरंजन के अन्य साधन 'ओप्पना' और 'अरवनमुट्ट' हैं। ओप्पना एक प्रकार का संगीत है जिसके साथ ताली बजाई जाती है। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। विवाह के अवसर पर स्त्रियां गोल घेरे में घूमती हैं और वधू का स्वागत करती हैं। पुरुष दूसरी ओर खड़े होकर गाना गाते हैं और वर का स्वागत करते हैं। अरवना नृत्य केरल के मुसलमानों ने अरब लागों से सीखा। यह अरब नृत्य है, इसलिए इसके साथ का संगीत भी अरब लोगों का है। डफ या 'टप' नामक वाद्य से ताल दी जाती है—यह एक गोल प्रतिघात वाद्य है जिसके एक ओर चमड़ा लगा रहता है।

हम देखते हैं कि केरल को समृद्ध और वैविध्यपूर्ण संस्कृति विरासत में मिली है जिसे सदियों से सुरक्षित रखा गया और जो शास्त्रोक्त विधि-विधानों को प्रदर्शित की जाने वाली कलाओं में अभिव्यक्त होती है। हमारे विधि-विधान दो प्रकार के हैं। कुछ अधिक जटिल हैं, जैसे तंत्र-विद्या। इनमें हमारे दार्शनिक और कलात्मक उत्तराधिकार का खजाना है जिन्हें आधुनिक विचारों के संदर्भ में गहराई से पढ़ा जाना चाहिए। हमारी कला को नया आयाम देने के लिए यह अति आवश्यक है। चित्रकारी के संबंध में ऐसा बहुत पहले हो चुका है। हमारे चित्रकारों ने अपने निकट भूत से संबंध विच्छेद कर लिया और महान् पुरातन परंपराओं से प्रेरणा ली। तांत्रिक और लोक-साहित्य से ली हुई प्रेरणा ने उनकी भाषा और भावनाओं को आधुनिक आयाम देने में सहायता की। कविता, नाटक और कहानी में यह परिवर्तन समस्त देश में आ रहा है—पुरातन को आत्मसात करना, वर्तमान को बदलना और भविष्य के लिए प्रेरणा देना।

कुछ धार्मिक विधि-विधान दूसरे स्तर के हैं। उनका कोई स्थायी कलात्मक प्रभाव नहीं है। उनमें आंतरिक जीवंतता नहीं है और आधुनिक संदर्भ में कोई मूल्य नहीं है। इनमें से एक कला जादू टोने की कला है। इस कला का आधुनिक मनुष्य

के जीवन में कोई महत्व नहीं है। फिर ऐसी कला को जीवित रहने का क्या अधिकार है ? क्या इस प्रकार की कला जीवित रह सकती है ? क्या इस प्रकार की कला को पुरातन के प्रतीक के रूप में जीवित रखना चाहिए ? हमारी लोक संस्कृति की उन कलाओं को कोई जीवित नहीं रख सकता जिनकी प्राकृतिक मृत्यु अवश्यंभावी है। परंतु यदि किसी कला में सौंदर्य है तो वह जीवित भी रहेगी और विकसित भी होगी। थोड़े से समय के लिए ऐसी कला का ह्रास हो सकता है, परंतु अंत में वह निश्चय ही पुनर्जीवन प्राप्त करेगी।

यदि कोई लोक-संस्कृति आधुनिक-युग में विवेकहीन लगे तो भी उसका सम्मान करना नहीं छोड़ना चाहिए। लोक-संस्कृति की महत्ता इसमें है कि वह जीवंत है कि नहीं। यदि इस कला में जीवंतता है तो इसमें निहित धार्मिक अंधविश्वास, विधि-विधान, जादू-टोने आदि इसके अंत समय को निश्चित नहीं कर सकते। कभी कभी जादू-टोना या कठिन धार्मिक विधान आंतरिक गहराई का हिस्सा मात्र होते हैं। किसी भी देश के सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिए केवल यह जानना आवश्यक नहीं है कि वहां कितने प्रकार की लोककलाएं जीवित हैं या उनके जीवित रहने की कितनी संभावनाएं हैं, बल्कि यह बात भी अपने में महत्वपूर्ण है कि हर देश-प्रदेश में लोकसंस्कृति का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए। इससे देश की लोक-संसकृति के दर्शन को जाना जा सकता है। लोक कला में सदियों में परिवर्तन आ जाता है परंतु लोक संस्कृति और लोक दर्शन सदैव जीवित रहेंगे। ये कल्पना को प्रेरणा देते रहेंगे। जब ग्रामीण जीवन में अंतर आता है और शहरी जीवन का प्रभाव पड़ने लगता है तो लोक कलाओं में भी परिवर्तन आ जाता है। जिन देशों की अपनी प्राचीन संस्कृति नहीं है। उनमें लोककलाओं का विशेष महत्व नहीं है। परंतु ऐसे देशों में भी रचनात्मक लोगों से दूसरी लोक-संस्कृतियों से प्रेरणा लेने की भावना बनी रहती है और उन्हें अपने निजत्व के खोने का डर रहता है। कुछ देश लोक-साहित्य में समृद्ध हैं और उन्होंने बहुत प्रगति भी की है। इन देशों में उद्योगीकरण और शहरीकरण के बाद भी पुरानी लोक संस्कृति को प्यार से याद किया जाता है। यह दोनों प्रकार के अनुभव हैं। हमारे देश के पास अपनी समृद्ध परंपरा के अतिरिक्त और देशों को देने के लिए कुछ नहीं है। हमारी परंपरा गंभीर अध्यात्म और भौतिकता में पूर्ण संतुलन करती है। एक सूक्ष्म प्रक्रिया गूढ़ता और आध्यात्मिकता को दूर करने की शुरुआत हो गई है, पर इसमें दार्शनिक दृष्टिकोण या आध्यात्मिक कल्पना को हटाने अथवा व्यावहारिकता से पल्ला झाड़ने का प्रयास नहीं है। इसी दृष्टिकोण से परंपरा को समझने का प्रयास किया जा रहा है। केरल समृद्ध और विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का प्रदेश है। यहां अनुभव भी है और क्षमता भी, जो देश और विदेश के सत्य को समझने वालों के लिए उपयोगी है तथा चिंतन को उर्वरता देनेवाला है।

सहायक ग्रंथों की सूची

केरल साहित्य चरितम	मलयालम	उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर
केरल भाषा विजननियम	मलयालम	डॉ. के. गोडा वर्मा
एन्शिएन्ट इंडिया, वोल्यूम 1. I	अंग्रेजी	रोमेश चन्द्र दत्त
त्रावणकोर स्टेट मैनुअल, वोल्यूम-IV		
एक हिस्ट्री ऑफ केरल	अंग्रेजी	के.एम. पनीक्कर
हिस्ट्री ऑफ केरल	अंग्रेजी	के.पी. पद्मनाभ मेनन
त्रावणकोर हिस्ट्री	अंग्रेजी	संकुन्नी मेनन
एन्शिएन्ट इंडिया वोल्यूम-1		
द्रविड़यन इंडिया		टी.आर. शेशा अय्यंगार
द' कोचीन ट्राइब्स एंड कास्ट्स		एल.के. अनन्तकृष्ण अय्यर
मालाबार एंड इट्स फोक		टी.के. गोपाल पनीक्कर
मालाबार, वोल्यूम-1		डब्ल्यू लोगन
भाषा साहित्य चरितम, भाग-1	मलयालम	आर. नारायण पीनक्कर
हंटर्स इंडियन अम्पायर		श्री विलयम विल्सन
मंत्रिका विद्यायुम मंत्रवडप्पाट्टुकलुम	मलयालम	एम.वी. विष्णु नम्बूदरी
पाकज़ियाम चटंगु	मलयालम	कनिप्पायुर शंकरन नम्बूदरीपाद
रामकथापट्ट	मलयालम	डॉ. पी.के. नारायण पिल्लै
द त्रावणकोर स्टेट मैनुअल, वोल्यूम-IV		
ए हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट संस्कृत लिट्रेचर	संस्कृत	मैक्समूलर
चतिरकम	मलयालम	सी.के. नम्बूदरी
क्रिश्चयन थिएटर इन इंडिया	अंग्रेजी	डॉ. चुम्मार चुंडल
केरलट्टिल अफ्रिका	मलयालम	के. पानुर
प्राचीन केरलम	मलयालम	एम.आर. बालकृष्ण वैरियर
सेन्सस ऑफ इंडिया, 1961, वोल्यूम-VII		केरल

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित